शायद इसी से उक्ति बनी: 'आहार निद्रा भय मैथुनं च...।' एक के खाने से दूसरे के पेट का सम्बन्ध असम्भव होता है। इससे यह चीज़ें सबके पास होकर भी सबको अलग रखती है। किसी के पास इनमें से किसी दिशा का नैपुण्य एवं कौशल विशेष हो, यह निस्सन्देह सशरीर के लिए स्पृहा और ईर्ष्या का विषय है। किन्तु उससे आगे वह क्या है, यह मेरी समझ में नही आ रहा है।

लेकिन छोडिए। इन वाक्यो को अनलिखा समझिए। वे अनधिकृत हैं। किन्तु उनमें आलोचना नही, याचना ही है।

कृपया पुस्तक की पहुँच स्वीकार कीजिए और इस सामयिक दान के लिए मेरी परम कृतज्ञता।

ऋषि-भवन,
१३-१-५२.

स्नेहाधीन आपका
जैनेन्द्रकुमार

'दूसरा सप्तक' की भूमिका मे अज्ञेय ने प्रतीकवाद की प्रयोगात्मकता से प्रभावित कवियो के समर्थन मे लिखा है कि "सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है, जो प्रयोग को सार्थक करती है।" और एक स्थान पर, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि प्रयोगशील कवि साधारणीकरण के सिद्धान्त को नही मानता, उन्होने लिखा है: "उसे अभी कुछ कहना है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हे वह समझा सके, साधारणीकरण को उसने छोड नही दिया है पर वह जितनो तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं।"

जैनेन्द्र जी कोई 'साधारण' पाठक नहीं है। वे स्वयं एक बडे लेखक और उपन्यासकार है। अज्ञेय कम-से-कम जैनेन्द्रजी-जैसे सवेदनशील और भावक पाठक तक तो पहुँच ही जाना चाहेगे, जिन्हे अपनी बात समझा सके। आश्चर्य है कि फिर भी जैनेन्द्रजी को 'नदी के द्वीप' को पढ़कर कोई 'उपलब्धि' नही हो पाई, और न अज्ञेय उन्हे वह 'महत्त्वपूर्ण' बात ही समझा पाए, जिसे सबल और चमत्कारिक ढंग से कह पाने के लिए उन्होने दस-पन्द्रह वर्ष से काव्य और उपन्यास मे प्रतीकवादी शैली के प्रयोग किये है।

जैनेन्द्रजी की 'याचना' अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठको की 'याचना' है, जिनको 'छोड़कर' प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है। इस कारण ही, 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बॉलिज़्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज़्म) की जो मिली-जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनो, हिन्दी-काव्य की एक विशेष धारा बनती जा रही है, एक आलोचक की हैसियत से उसकी जाँच-परख करने का दायित्व हम पर है।

देवराज उपध्याय ने 'दूसरा सप्तक' मे प्रकाशित अज्ञेय के वक्तव्य को 'सारगर्भित' कहा है। 'सारगर्भित' वह है। लेकिन उसका 'सार' अर्ध-सत्यो से निर्मित हुआ है, जिससे वह एकागी है, और साहित्य मे नये 'प्रयोगो' की मूल समस्याओ को अंशतः उठाकर भी अन्ततः उनसे कतरा जाता है। इन अर्ध-सत्यो को मनवाने के लिए अज्ञेय ने एक तर्क-प्रणाली अपनाई है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो उनकी 'सरल' और 'सीधी' बात से इन्कार करना चाहे तो

उसे अपने को 'दुराग्रही', 'परम्परा की दुहाई' देने वाला, 'आरोपित पूर्वग्रहो की मैली ओट' से देखने वाला समझकर ही ऐसा करने का दुस्साहस करना होगा। इसलिए साहित्य या कला मे 'प्रयोग' के प्रश्न पर सबसे पहले अपना दृष्टिकोण उपस्थित करना अपेक्षित है।

अज्ञेय के इस कथन से हम सहमत है कि "प्रयोग निरन्तर होते आए है और प्रयोगो के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ सका है।" कि "... केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नही बना देती।" कि "पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नही।" फिर, गुप्त, प्रसाद, निराला, पत, महादेवी, बच्चन, दिनकर आदि की पीढी के बाद के तरुण कवियो की कविता को ही 'प्रयोगशील' कहने की आवश्यकता क्यो पड गई? क्या इसलिए कि ये नये कवि "यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।" (तार-सप्तक की भूमिका, पृष्ठ ४) और उनमे 'भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफाई' अपेक्षया कम है और उन सबकी कविता मे 'अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा मे' पाई जाती है? या इसलिए कि इन कवियो से पहले के कवि 'प्रयोग' नही करते थे, या 'प्रयोग' पर इतना कम ध्यान देते थे कि वह नही के बराबर होता था, जिससे उनकी 'कविता' कविता न होती थी, उसमे 'कला' नही, 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' ही होता था, जिससे वह कविता (छायावादी) अपने समय की 'वास्तविकता', अपने समय के 'जीवित-सत्य' को उतनी सबल, कलात्मक अभिव्यक्ति न दे पाई, जितनी सबल और कलात्मक अभिव्यक्ति नई प्रयोगशील कविता 'आज की वास्तविकता' और आज के 'जीवित सत्य' को दे रही है?—'भले ही अटपटे शब्दो मे।' या फिर यह सारा शब्द-जाल इसलिए बिछाया गया है कि उसमे फँसकर पाठक यह मान ले कि एक विशेष प्रकार की कविता ही, एक विशेष प्रवृत्ति, भाव-धारा और विचार-कोण ही, एक विशेष शैली और गठन ही 'प्रयोगशील' होता है?—मेरा तात्पर्य प्रतीकवादी कविता और साहित्य से है। प्रयोगशीलता की ओट मे अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचार-धारा को साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि 'तार-सप्तक' की भूमिका मे उन्होने यह कहने के बाद कि अन्वेषी का दृष्टिकोण सातों कवियो को समानता के सूत्र मे बॉधता है, लिखा था: "इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएं प्रयोगशीलता के नमूने है, या कि इन कवियों की रचनाएं रूढि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले हैं।' उन्होने 'प्रयोगशीलता के नमूने' के रूप मे किसी विशेष कविता का हवाला नहीं दिया है, इसलिए मैं उनकी कविताओ को ही ऐसा नमूना मानने के लिए बाध्य हूँ; और उनकी कविता प्रतीकवादी है।

अज्ञेय का यह कहना सर्वथा सही है कि "प्रयोग अपने-आप मे इष्ट नही है, वह साधन है।" साधन किसका? सत्य को कलात्मक ,अभिव्यक्ति देने का, 'सत्य को जानने' का नहीं, जैसा कि उनका दावा है। प्रयोग को सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानकर वह साहित्य मे सत्य से ऑख-मिचौनी ही खेल सकते है, वस्तुतः खेलते आए हैं। प्रतीकवाद उसका परिणाम है, यद्यपि वादो से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील,' किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्म वेष मे तरुण प्रतिभाओ को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ मे पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा,

शायद इसी से उक्ति बनी: 'आहार निद्रा भय मैथुनं च...।' एक के खाने से दूसरे के पेट का सम्बन्ध असम्भव होता है। इससे यह चीज़ें सबके पास होकर भी सबको अलग रखती हैं। किसी के पास इनमें से किसी क्रिया का नैपुण्य एवं कौशल विशेष हो, यह निस्सन्देह सशरीर के लिए स्पृहा और ईर्ष्या का विषय है। किन्तु उससे आगे वह क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

लेकिन छोड़िए। इन वाक्यों को अनलिखा समझिए। वे अनधिकृत हैं। किन्तु उनमें आलोचना नहीं, याचना ही है।

कृपया पुस्तक की पहुँच स्वीकार कीजिए और इस सामयिक दान के लिए मेरी परम कृतज्ञता।

ऋषि-भवन,
१२-१-५२.

स्नेहाधीन आपका
जैनेन्द्रकुमार

'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने प्रतीकवाद की प्रयोगात्मकता से प्रभावित कवियों के समर्थन में लिखा है कि "सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है, जो प्रयोग को सार्थक करती है।" और एक स्थान पर, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि प्रयोगशील कवि साधारणीकरण के सिद्धान्त को नहीं मानता, उन्होंने लिखा है: "उसे अभी कुछ कहना है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके, साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं।"

जैनेन्द्र जी कोई 'साधारण' पाठक नहीं है। वे स्वयं एक बड़े लेखक और उपन्यासकार हैं। अज्ञेय कम-से-कम जैनेन्द्रजी-जैसे संवेदनशील और भावक पाठक तक तो पहुँच ही जाना चाहेंगे, जिन्हें अपनी बात समझा सके। आश्चर्य है कि फिर भी जैनेन्द्रजी को 'नदी के द्वीप' को पढ़कर कोई 'उपलब्धि' नहीं हो पाई, और न अज्ञेय उन्हें वह 'महत्त्वपूर्ण' बात ही समझा पाए, जिसे सबल और चमत्कारिक ढंग से कह पाने के लिए उन्होंने दस-पन्द्रह वर्ष से काव्य और उपन्यास में प्रतीकवादी शैली के प्रयोग किये हैं।

जैनेन्द्रजी की 'याचना' अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठकों की 'याचना' है, जिनको 'छोड़कर' प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है। इस कारण ही, 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बॉलिज़्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज्म) की जो मिली-जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनों, हिन्दी-काव्य की एक विशेष धारा बनती जा रही है, एक आलोचक की हैसियत से उसकी जाँच-परख करने का दायित्व हम पर है।

देवराज उपध्याय ने 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशित अज्ञेय के वक्तव्य को 'सारगर्भित' कहा है। 'सारगर्भित' वह है। लेकिन उसका 'सार' अर्ध-सत्यों से निर्मित हुआ है, जिससे वह एकांगी है, और साहित्य में नये 'प्रयोगों' की मूल समस्याओं को अंशतः उठाकर भी अन्ततः उनसे कतरा जाता है। इन अर्ध-सत्यों को मनवाने के लिए अज्ञेय ने एक तर्क-प्रणाली अपनाई है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो उनकी 'सरल' और 'सीधी' बात से इन्कार करना चाहे तो

उसे अपने को 'दुराग्रही', 'परम्परा की दुहाई' देने वाला, 'आरोपित पूर्वग्रहो की मैली ओट' से देखने वाला समझकर ही ऐसा करने का दुस्साहस करना होगा। इसलिए साहित्य या कला मे 'प्रयोग' के प्रश्न पर सबसे पहले अपना दृष्टिकोण उपस्थित करना अपेक्षित है।

अज्ञेय के इस कथन से हम सहमत है कि "प्रयोग निरन्तर होते आए है और प्रयोगो के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है।" कि "... केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नही बना देती।" कि "पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नही।" फिर, गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, दिनकर आदि की पीढ़ी के बाद के तरुण कवियो की कविता को ही 'प्रयोगशील' कहने की आवश्यकता क्यो पड गई? क्या इसलिए कि ये नये कवि "यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।" (तार-सप्तक की भूमिका, पृष्ठ ५) और उनमे 'भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफाई' अपेक्षया कम है और उन सबकी कविता मे 'अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा मे' पाई जाती है? या इसलिए कि इन कवियो से पहले के कवि 'प्रयोग' नही करते थे, या 'प्रयोग' पर इतना कम ध्यान देते थे कि वह नही के बराबर होता था, जिससे उनकी 'कविता' कविता न होती थी, उसमे 'कला' नही, 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' ही होता था, जिससे वह कविता (छायावादी) अपने समय की 'वास्तविकता', अपने समय के 'जीवित-सत्य' को उतनी सबल, कलात्मक अभिव्यक्ति न दे पाई, जितनी सबल और कलात्मक अभिव्यक्ति नई प्रयोगशील कविता 'आज की वास्तविकता' और आज के 'जीवित सत्य' को दे रही है?—'भले ही अटपटे शब्दो मे।' या फिर यह सारा शब्द-जाल इसलिए बिछाया गया है कि उसमे फँसकर पाठक यह मान ले कि एक विशेष प्रकार की कविता ही, एक विशेष प्रवृत्ति, भाव-धारा और विचार-कोण ही, एक विशेष शैली और गठन ही 'प्रयोगशील' होता है?—मेरा तात्पर्य प्रतीकवादी कविता और साहित्य से है। प्रयोगशीलता की ओट मे अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचार-धारा को साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि 'तार-सप्तक' की भूमिका मे उन्होने यह कहने के बाद कि अन्वेषी का दृष्टिकोण सातो कवियो को समानता के सूत्र मे बाँधता है, लिखा था: "इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएं प्रयोगशीलता के नमूने है, या कि इन कवियो की रचनाएं रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील है और बाकी सब घास छीलने वाले है।' उन्होंने 'प्रयोगशीलता के नमूने' के रूप मे किसी विशेष कविता का हवाला नहीं दिया है, इसलिए मैं उनकी कविताओ को ही ऐसा नमूना मानने के लिए बाध्य हूँ; और उनकी कविता प्रतीकवादी है।

अज्ञेय का यह कहना सर्वथा सही है कि "प्रयोग अपने-आप मे इष्ट नहीं है, वह साधन है।" साधन किसका? सत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का, 'सत्य को जानने' का नहीं, जैसा कि उनका दावा है। प्रयोग को सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानकर वह साहित्य मे सत्य से आँख-मिचौनी ही खेल सकते हैं, वस्तुतः खेलते आए है। प्रतीकवाद उसका परिणाम है, यद्यपि वादो से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील,' किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्म वेष में तरुण प्रतिभाओ को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ मे पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा,

की है और इस प्रकार साधारणीकरण के प्रश्न से कतराकर प्रयोगशील कविता और साहित्य की दुर्बोधता और दुरूहता को समाज के 'विभाजित सत्य को समूचा' देख सकने के लिए अनिवार्य और स्पृहणीय बताया है। ('दूसरा सप्तक' के अधिकाश कवि उनके इस मत से सहमत नही दीखते।) इस सम्बन्ध मे इतना कहना ही अलम् होगा कि नये समाज-सम्बन्धो और नई परिस्थितियो (बाह्य वास्तविकता) के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसका साधारणीकरण करने की समस्या आदि काल से लेकर आज तक प्रत्येक युग के कलाकारो के सामने रही है। इस समस्या से जूझकर और इसका कलात्मक समाधान खोजकर ही उन्होने महान् कला की सृष्टि की है। इसके लिए उन्होने स्थापित समाज की अवहेलना और उपेक्षा भी सहन की है और अकथ यातनाएं और कठिनाइयाँ भी झेली है। प्राचीन काल मे अनेक कलाकार प्रसिद्धि नहीं पा सके, उनका घोर विरोध भी हुआ और वह गरीबी और मुफलिसी का जीवन बिताते हुए मरे। लेकिन उनकी रचनाए अपने समय के पाठक या दर्शक-वर्ग (अथवा आम जनता) के लिए दुर्बोध और अगम्य रही हो, इतिहास इसका साक्षी नहीं है। अज्ञेय के दुराग्रह को सिद्ध करने के लिए हमे इतिहास के तथ्यो को अनदेखा करके एक आत्म-प्रवंचक की तरह सोच लेना होगा कि मिल्टन और गालिब की कविता, शेक्सपियर और इब्सन के नाटक, स्विफ्ट और डिकेन्स के उपन्यास, बीथोविन और मोजार्ट का संगीत, रेम्ब्राँ के चित्र अपने समय के सर्वसाधारण द्वारा नहीं समझे जाते थे, या यह कि ये सही मायनो मे 'प्रयोगशील' कलाकार न थे, केवल 'घास छीलने वाले' थे और उनकी कला मे 'कला' नही केवल 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' था। वस्तुतः प्राचीन युगो के महान् कलाकारो की रचनाएं, उनके नये प्रयोग सर्वसाधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे। उनके नये प्रयोगो या उनकी नई शैलियो का विरोध हुआ तो केवल इस कारण कि वह कलाकार तात्कालिक रूढियो और मान्यताओ से विच्छेद करके चले थे, न कि इसलिए कि उनकी बाते दुर्बोध थीं। दरअसल सत्ताधारी वर्गो या न्यस्त स्वार्थों के लोगो की ओर से उन पर आक्रमण होता ही इस कारण था कि उनके विप्लवकारी विचार सर्व-साधारण को बोधगम्य और ग्राह्य होते थे, और यह उन्हे प्रिय न हो सकता था।

अपने युग की श्रेष्ठ कला को इने-गिने लोग ही समझ सकते है, और सच्चा कलाकार अपने समय मे नहीं समझा जाता, इसलिए वह भावी सन्तति के लिए ही कला-सृष्टि करता है, "क्योकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो" जाती है—यह धारणा तो पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही—अनेक सामाजिक-ऐतिहासिक कारणो के संयोग से—योरप (फ्रास) मे पैदा हुई, और इसके पीछे छिपी कलाकार की नक्कूशाही (फिलिस्टीन) अहम्मन्यता और बौद्धिक आभिजात्य से उत्पन्न दयनीय निरसहायता सर्वसाधारण (पाठक और दर्शक) से उसके सम्बन्ध-विच्छेद की सूचना देती है और इस बात की सूचना देती है कि पूँजीवाद के ह्रास-काल में एक व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक जीवन से तटस्थ कलाकार किस प्रकार अपना सच्चा आत्म-गौरव खोकर एक असामाजिक प्राणी—त्रिशंकु बन जाता है।

अज्ञेय ने अपने वक्तव्य मे परम्परा का प्रश्न भी उठाया है और परम्परा का कवि के लिए तभी कोई अर्थ माना है जब वह उसे 'आत्मसात्' करके अपना 'गहरा संस्कार' बना ले। ऐसी 'संस्कार देने वाली परम्परा' ही उनकी दृष्टि मे 'कवि की परम्परा' हो सकती है। इससे हम असहमत नही है। और अज्ञेय की कविता और साहित्य की जड़े किसी पूर्व-परम्परा मे न हो, ऐसा भी नहीं है। फ्रास के प्रतीकवादियो, टी० एस० इलियट और ऐसी ही अधुनातन असामा-

जिक प्रवृत्तियों और लेखकों की परम्परा से वह सम्बद्ध है, वस्तुतः हिन्दी साहित्य में वह उनकी ही तर्जुमानी करते है। उनकी रचनाओं में विचित्रता, अनबूझना और नयापन (मुक्तिदायी ताजगी और मानवीय भावनाओं, और विचारों की व्यापकता और बुलन्दी नहीं) जो पाठकों को दिखता है, वह पाश्चात्य साहित्य के अध्येता के लिए उतना मौलिक और नया नहीं है। तो अज्ञेय परम्परा की बात तो उठाते है, और एक सीमा तक सही ढंग से भी, लेकिन एक प्रयोगशील कवि के लिए परम्परा का वास्तविक महत्त्व क्या है, इस प्रश्न से वह उसी तरह कतरा जाते है जिस तरह साधारणीकरण के प्रश्न से। इसलिए नये प्रयोग करने वाले कवि या कलाकार के लिए परम्परा का क्या महत्त्व है, इसे समझ लेना जरूरी है। वर्तमान को वस्तु और रूप के लिए विगत पर ही निर्भर करना होता है। ये वस्तुएं या उपकरण और रूप-विधान वर्तमान की जीवित सामाजिक परिस्थितियों के मध्य परिवर्तित और विकसित होते जाते है और साथ ही उन सामाजिक परिस्थितियों को भी प्रभावित करते जाते है। कलाकार के लिए परम्परा से अवगत होने का अर्थ उस पुञ्जीभूत शिल्प और टेकनीक का पूरा पूरा ज्ञान और नैपुण्य प्राप्त कर लेना है, जो विगत युगों मे कला-क्षेत्र मे विकसित हुई है। इसका तात्पर्य यह नही कि कलाकार विगत का अनुकरण करे। कोई भी सच्चा कलाकार अपने को सीखी-जानी टेकनीक की सीमाओं मे ही बाँधकर नहीं रखता। वह इस शिल्प ज्ञान और टेकनीक को अपने समय की विषय-वस्तु को अभिव्यक्ति देने योग्य बनाने के लिए तोडता-मरोडता और बदलता है। इस प्रकार पुरानी टेकनीक नये सत्य की अभिव्यक्ति करते समय स्वयं ही नही बदल जाती, बल्कि बदलकर नये सत्य को युगानुरूप नया रूप-विधान भी प्रदान करती है। "कोई भी कवि या कलाकार जब अपनी सामग्री को कलात्मक रूप देने की चेष्टा करता है तो वह सर्वथा नई वस्तु नही पैदा करता। वह प्राचीन से, अपने अनुभव से, समाज के पुञ्जीभूत अनुभव से प्राप्त सामग्री का उपयोग करता है। लेकिन उसके हाथ मे पडकर वह समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के साथ एक नये सम्बन्ध मे गठित हो जाता है, और यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो परिणामतः एक मौलिक कलाकृति की सृष्टि होती है, अतः परम्परा की आधार-शिला पर (जिसका निर्माण मनुष्य-जाति शताब्दियों मे करती है) पॉव जमाकर ही एक कलाकार अपने जीवन के लघु वर्षो मे भी एक महान् स्रष्टा की बुलन्दी तक ऊपर उठ जाता है।" (सोशल रूट्स ऑफ द आर्ट्स—पृ० ६६) परम्परा के अन्तर्गत कल और आज की परम्पराएं भी शामिल है और गत शताब्दी या आदिकाल से लेकर अब तक के किसी भी देश और काल की परम्पराएं भी। साहित्य या कला को सच्चे अर्थो मे राष्ट्रीय साहित्य की महानता और व्यापकता देने के लिए विगत की कौन-सी परम्परा को नई कला या साहित्य मे आत्मसात् करना चाहिए, इसका निर्णय तो प्रत्येक कलाकार या लेखक सामाजिक जीवन और संघर्षो की अपनी चेतना के अनुसार स्वयं करता है। प्रेमचन्द ने तॉल्स्तॉय, गोर्की, डिकेन्स आदि यथार्थवादी लेखकों से प्रेरणा ली। अज्ञेय की प्रेरणा के स्रोत बोदलेयर, मलार्मे, प्रूस्त, टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस, इजरा पाउण्ड, जीन पाल सार्त्रे आदि प्रतीकवादी, बिम्बवादी और अस्तित्ववादी कवि और उपन्यासकार ही बने, जो ह्रासकालीन पूँजीवाद की विशृङ्खलता, अराजकता और जन-विरोधी व्यक्ति-निष्ठा के प्रतिनिधि हैं।

तो अज्ञेय की 'प्रयोगशीलता' का नकाब उतारकर हमे उसके असली 'प्रतीकवादी' रूप को समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस विशेष प्रकार की 'प्रयोगशीलता' के पीछे कविता, उपन्यास,

कहानी और नाटक आदि के माध्यम से हमारी समूची जनता और कौम की विरासत और सामूहिक जीवन को, उसके समस्त वैविध्य और अन्तर्विरोधों के साथ कलात्मक रीति मे प्रतिबिम्बित करने का आग्रह नही है। प्राचीन काल के कलाकारो की तरह नई परिस्थितियो से प्राप्त नई विषय-वस्तु को मूर्त, सक्रिय और सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने के निमित्त प्रयोग करना छोड़कर केवल रूप-विधान और शैली को जान-बूझकर अधिकाधिक निर्जीव, जटिल और दुरूह बनाने की चेष्टा ही नई प्रयोगशील कविता की विशेषता है, क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, यह प्रवृत्ति 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' से प्रभावित है। और जब अज्ञेय कहते है कि "प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएं प्रयोगशीलता के नमूने" नहीं हैं तो प्रच्छन्न रूप मे कवियो से (जो अधिकतर प्रगतिशील जनवादी दृष्टिकोण के हैं) उनका यही आग्रह होता है कि 'आपकी कविता मे अभी प्रेषणीयता के गुण वर्तमान है, अभी तक आपने "चेष्टा-पूर्वक ध्यान रखकर" अपनी शैली को इतना प्रतीकात्मक नही बना पाया कि उसमे व्यक्त भाव विचारो के सकेत केवल आपके लिए ही सार्थक हो, अन्य के लिए वे अगम्य हो—अर्थात् आप अभी तक अन्य मनुष्यो के साथ कवि के रूप मे सम्पर्क स्थापित किये हुए है, पूरे त्रिशंकु नहीं बने! पूरे त्रिशकु बन जाने पर आप किस राजनीतिक दल या विचार धारा का समर्थन करते है, यह हमारे लिए चिन्ता का विषय नही होगा।'

हमे प्रयोगशीलता-बनाम-'प्रतीकवाद' से इसी बात पर आपत्ति है, इस पर नहीं कि प्रतीकवादी 'प्रतीकों' का प्रयोग करते हैं—क्योकि भाव और विचारो से गुम्फित अनुभव को प्रदीपित करने के लिए प्रतीको का प्रयोग तो कवि आदि काल से करते आए है। इस प्रसग मे हमने जो नुक्ते उठाये हैं, हिन्दी-आलोचको का कर्तव्य है कि उनको दृष्टि मे रखकर वे इस नई धारा की समूची कविता, उपन्यास और कहानियो का सही-सही मूल्याकन करे और 'प्रयोगशीलता' के नाम से भ्रान्ति मे पड़कर 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' की शैलियो को अपनाने वाले कवि और लेखको का कर्तव्य है कि वे एक कलाकार की ईमानदारी से सोचे कि वह अपनी जनवादी विचार-धारा के बावजूद कलाकार के रूप मे कहीं जन-समाज के त्रिशंकु तो नही बनते जा रहे?

—*शिवदानसिंह चौहान*

निबन्ध

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

भारतीय आलोचना-पद्धति

भारतीय आलोचना-पद्धति की प्रमुख विशेषता वस्तु-तथ्य, सिद्धान्त और जीवन को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास है और इस प्रयास मे आलोचक अपने निजी व्यक्तित्व को प्रकट नही करना चाहता। अपने-आप उसकी शैली या विचार-पद्धति से चाहे वह प्रकट हो जाय अथवा अन्य मनीषियो के विचारो से भेद करने के लिए भले ही उसे प्रकट करना पडे[1] और इस दिशा मे भी वह पूर्ववर्ती बनना चाहता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए केवल दो संस्कृताचार्यों की कृतियो की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। पहली कृति भरत मुनि-कृत 'नाट्य-शास्त्र' है, जिसे हम नाटक पर लिखा गया सर्वप्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ मानते हैं। वे यदि चाहते तो बड़ी सरलता से अपने ग्रन्थ मे इस विषय का एक-मात्र लेखक होने के सम्बन्ध में अपना आभास दे सकते थे, परन्तु उन्होने ऐसा न करके अपने पूर्ववर्ती नटसूत्रो के प्रणेताओ, कृशाश्व और शिलविन, का उल्लेख कर दिया है। दूसरी कृति मम्मट-कृत 'प्रकाश काव्य' है; उन्होने भी रसानुभूति की प्रक्रिया के वर्णन मे जो सूचना दी है, वह अन्यत्र कही भी उपलब्ध नही है और आज भी हम इस प्रक्रिया के अध्ययन करने के समय भट्ट लोल्लट के आरोपवाद, शंकुक के अनुमानवाद, भट्ट नायक के भोगवाद और अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद आदि के लिए मम्मट का 'काव्य प्रकाश' ही देखते हैं और उसकी सूचना को ही सब-कुछ समझते हैं। इसके साथ-ही-साथ बहुत-सी सूचनाएं, सूक्तियॉ और रचनाएं ऐसी भी है जिनके नाम आज तक अज्ञात हैं। इस आत्म-गोपन की प्रकृति के दुष्परिणाम और सुपरिणाम दोनो ही हुए हैं। दुष्परिणाम तो यह हुआ है कि हमे ऐतिहासिक तथ्य जानने मे कठिनाई होती है। इतना ही नही अत्यधिक आत्म-गोपन के भाव ने बहुत-से तथ्यों की जानकारी असम्भव बना दी है और आज भी किसी भी शास्त्र या वस्तु का क्रमबद्ध भारतीय इतिहास लिखना दुष्कर कर्म हो गया है। परन्तु इसका एक सुन्दर परिणाम यह हुआ है कि आलोचना-पद्धति या विचार-पद्धति अपने व्यक्तिगत विज्ञापन की

---

१. जैसे 'काव्य-मीमांसा' में भावक (आलोचक) और कवि के भेदो पर विभिन्न मतो को देते हुए राजशेखर ने लिखा है—'कः पुनरनयो भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च-कवि.'—इत्याचार्याः। 'ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च' इति मंगलः। 'कवयोऽपि भवन्ति'—इति वामनीयः। 'चतुर्द्धा इति यायावरीयः।' चतुर्थोऽध्यायः। इसी प्रकार की पद्धति कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रो मे भी मिलती है।

प्रवृत्ति के अभाव मे पूर्ण सैद्धान्तिक बन गई है। इस प्रकार निष्पन्न तथ्य-निरूपण और सैद्धान्तिक विवेचना भारतीय आलोचना-पद्धति की पहली विशेषता है और इसका प्रमाण हमें केवल साहित्य के ही क्षेत्र मे नही मिलता—जिसमे कि नाट्य-शास्त्र, काव्यालकार, काव्य-मीमांसा, ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थ मिलते हैं—वरन् अध्यात्म-दर्शन तथा समाज-शास्त्र के ग्रन्थो मे भी यह विशेषता देखने को मिलती है।

भारतीय आलोचना-पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति-प्रधान न होकर विषय-प्रधान है। अर्थात् उसके द्वारा जिस दृष्टिकोण की अभिव्यंजना की गई है वह वर्ण्य-विषय का सूक्ष्म और सप्रमाण विश्लेषण होने के कारण उस व्यक्ति तक ही सीमित रहने वाले विशेष भाव के रूप मे नहीं है; वरन् वास्तव मे वह अन्य बहुतों का दृष्टिकोण बन जाती है। विषय-प्रधान होने के कारण जैसा अनुभव एक पूर्ववर्ती आलोचक का है वैसा ही परवर्ती दूसरे आलोचक का भी हो सकता है। इस पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि परवर्ती आलोचको के द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यो के मत की अपूर्णता दूर करके उस विशिष्ट सिद्धान्त का सर्वांगीण रूप सामने रखने का प्रयत्न निर्बाध चलता रहा है।

इस बात को प्रकट करने मे भारतीय आलोचना-पद्धति की एक तीसरी विशेषता भी स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि भारतीय आलोचक पूर्ववर्ती आचार्यो के विचारो का ध्यानपूर्वक तटस्थ भाव से अध्ययन करके अपने विशिष्ट शिक्षा या संस्कार-जन्य प्रभावो के आधार पर किसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार चिन्तन-शृङ्खला मे बराबर आगे अपनी कृतियाँ जोड़ता चलता है। वास्तव मे हमारी आज की वैज्ञानिक विकास-पद्धति का भी यही क्रम है। तर्क द्वारा सिद्धान्त या तथ्य के असत्य पक्ष का खण्डन करके जिसे हम ठीक समझते है उस अंश को आगे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। आलोचना[1] और विशेष रूप से अलंकार-शास्त्र के क्षेत्र मे भारतीय आलोचको ने यही किया है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि यदि ऐसा है तो भारतीय काव्यालोचन के क्षेत्र मे विभिन्न काव्य-सिद्धान्त क्यो उठ खड़े हुए है। वास्तव मे बात यह है कि विश्व मे परिव्याप्त अखण्ड सत्य के असख्य पक्ष और रूप हैं और मेरा अपना व्यक्तिगत विचार है कि एक चिन्तनशील व्यक्ति जब तटस्थ रूप से कोई मत स्पष्ट करता है तो वह नवीन होते हुए भी अन्य रूपो का रूपक ही अधिक होता है। उनसे नितान्त भिन्न या विरोधी कोई तथ्य नहीं और सभी तथ्य मिलकर एक व्यापक सत्य के उद्घाटन मे सफल होते हैं।

भारतीय आलोचना-पद्धति की चौथी विशेषता यही है कि वह अपने समस्त तथ्यान्वेषण को एक स्वतः सिद्ध, पूर्ण और व्यापक सत्य से एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न करती है। अपने इस प्रयत्न मे यह पद्धति सदैव तथ्यवादी न रहकर काल्पनिक हो जाती है। हमे यह भी मानना पड़ेगा, और यहीं पाश्चात्य पद्धति से उसका प्रमुख भेद हमारी राष्ट्रीय और सास्कृतिक भिन्नता

---

१. आज की साहित्यिक आलोचना और अलंकार-शास्त्र मे विशेष अन्तर नही, यह बात 'अलंकार शेखर' की प्रस्तावना में लिखे हुए इस वाक्य से स्पष्ट हो जायगी : "यत्खलु काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषगुणरीतिरसालंकाराणामवधारणे शक्तिमुन्मेषयति तन्नाव-दलकारशास्त्रं निगद्यते।"

के कारण और भी स्पष्ट हो जाता है।[1]

पाश्चात्य आलोचना-पद्धति काव्य को जीवन की अनुकृति, आलोचना आदि के रूप मे मानती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह विवेचना काव्य-कर्ता की दृष्टि से की गई है जब कि भारतीय आलोचना सामाजिक श्रोता या रस-भोक्ता की दृष्टि से होती है। काव्यकार की दृष्टि से कर्ता की व्यक्तिगत और परिस्थितिगत कठिनाइयो को ध्यान मे रखकर जो आलोचना की जाती है उसमे उसके प्रति सहानुभूति का भाव होने से वह अधिक यथार्थ और तथ्यवादी होती है। पर सामाजिक दृष्टि वास्तविक आलोचना की दृष्टि है जो कृति-विशेष की प्रशंसा उसके भीतर व्याप्त सौन्दर्य या आनन्द के तथ्यो के आधार पर करती है, जिनका एक आदर्श उसके सामने होता है। इस प्रकार भारतीय आलोचना-पद्धति आदर्शात्मक है।

पाश्चात्य आलोचना-पद्धति जहॉ पर ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधारो को प्रमुख महत्त्व प्रदान करती है, वहॉ भारतीय आलोचना-पद्धति प्रत्येक परिस्थिति मे परिव्याप्त तथ्यो और सिद्धान्तो को अपनाती है। इन तथ्यो और सिद्धान्तो के प्रकाश मे व्यक्ति का अपना प्रयत्न केवल पूर्णता की ओर प्रयास-मात्र है। परन्तु यहॉ पर हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये दोनो पद्धतियॉ एक-दूसरे की विरोधिनी नहीं वरन् पूरक हैं, और आधुनिक युग मे हमे पाश्चात्य पद्धतियो को सहर्ष अपनाते हुए भी भारतीय पद्धति को मूलाधार के रूप में ग्रहण करके चलना ही अधिक उपयुक्त है।

ऐसी बात नहीं कि भारतीय समालोचना के भीतर कभी भी पाश्चात्य और पाश्चात्य समालोचना के भीतर कभी भी भारतीय दृष्टिकोण आया ही न हो। परन्तु प्रधानतया दोनो की निजी विशेषताएं इसी प्रकार की हैं। भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर खण्डन और मण्डन-पद्धति के आधार पर पूर्ववर्ती सिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया था परन्तु हमे तो उसमे अपने मत के प्रति हठ-धर्मी के साथ आग्रह न होकर तर्क और युक्तिपूर्वक प्रतिपादन ही देखने को मिलता है, जो विषय-प्रधान आलोचना के लिए नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त विशेषताओ से युक्त भारतीय आलोचना-पद्धति के विभिन्न रूप हमे प्राचीन साहित्य में देखने को मिलते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण रूप सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना का है। सैद्धान्तिक सूत्र दो प्रकार के प्रयत्नो के फलस्वरूप लिखे गए—प्रथम काव्य की आत्मा को खोजने और दूसरे कवि-शिक्षा की बातें लिखने के। बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे बहुधा दोनो ही प्रकार के सूत्र एक साथ भी मिलते हैं। काव्यात्मा की खोज करने वाले साहित्यालोचना के सैद्धान्तिक सूत्र-ग्रन्थों में प्रमुख नाट्य शास्त्र (भरतमुनि), काव्यालंकार (भामह), काव्यादर्श (दण्डी), वक्रोक्तिजीवितम् (कुन्तल), काव्यालंकार सूत्र (वामन), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्य-प्रकाश (मम्मट), साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ) आदि हैं। इनके भीतर काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करते-करते आचार्यों द्वारा यह

---

1. "Oriental consciousness is, for example, in general more poetic than the Western mind, if we exclude Greece In the East the principle predominant is always that of coherence, unity . For the oriental nothing persists as really substantive, but everything appears as contingent discovering its supreme focus, stability and final justification in the One, the Absolute to which it is referred

—The Philosophy of Fine Arts by Hegel Part iv P. 28

भी खोज निकाला गया कि काव्य की आत्मा अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि अथवा रस है। इनके सिद्धान्त-ग्रन्थो मे सूत्र रूप मे आए कथनो को सिद्ध करने का प्रयत्न है। साथ ही जैसा पहले कहा जा चुका है, इन विचारको ने या तो अपना निजी सिद्धान्त दृढ़ किया है अथवा पूर्ववर्ती सिद्धान्त विशेष को अधिक स्पष्ट और प्रमाणित किया है। काव्यात्मा से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदायो के सिद्धान्त-सूत्र इस प्रकार देखे जा सकते हैं :

अलंकार-सम्प्रदाय—(१) काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः (वामन)
(२) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी)

रीति-सम्प्रदाय—रीतिरात्मा काव्यस्य (वामन)

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् (कुन्तल)

ध्वनि-सम्प्रदाय—काव्यस्यात्मा ध्वनिः (आनन्दवर्धन)

रस-सम्प्रदाय—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ)

इस प्रकार की सैद्धान्तिक सूत्रमयी आलोचना, जो काव्यात्मा को खोजने के लिए की गई, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और ये सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुए हैं उस विशिष्ट भारतीय आलोचना-पद्धति के द्वारा, जिसमे पूर्ववर्ती सत्य, तथ्य को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना का दूसरा रूप हमे काव्य-भेदो को स्पष्ट करने वाले तथा कवि-शिक्षा पर लिखे गए ग्रंथो मे मिलता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि ये ग्रन्थ पूर्ववर्ती ग्रन्थों से एकदम अलग ग्रन्थ नही हैं, परन्तु इनमे जिस वृत्ति की अपेक्षा है वह पहली से भिन्न है। इन ग्रन्थो के अन्तर्गत काव्य के विविध रूपो को देखकर उनके लक्षण निकालना, प्रयुक्त भाषा आदि के विषय मे नियम निरूपित करना, वर्ण्य-विषयो और वर्णन-परम्परा को समझाना तथा काव्य-दोषादि का निर्देश करना रहता है। इनमे सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न नही, वरन् उसके निरूपण अथवा लक्षण और रीति बताने का प्रमुख कार्य है। इन दो प्रकार के प्रयत्नो मे हम भेद करना चाहे तो कह सकते है कि प्रथम प्रकार का प्रयत्न काव्य-सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत है और द्वितीय प्रकार का प्रयत्न काव्य-शास्त्रीय आलोचना के। काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य की रीति-नीति सम्बन्धी बातें और सूचना ही प्रधान रूप से रहती है, सिद्धान्त-निर्णय नहीं। काव्यादर्श, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, काव्य-कल्पलतावृत्ति, काव्य-मीमांसा, अलंकार-शेखर आदि ग्रन्थो मे काव्य-शास्त्रीय प्रयत्न ही प्रधान है। इस प्रकार भारतीय आलोचना-पद्धति का यह रूप कितना महत्त्वपूर्ण है, इस सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही।

इसके उपरान्त आलोचना-पद्धति के अन्य भेदो को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि ये भेद अपना अलग-अलग स्वतन्त्र रूप नहीं रखते, वरन्, उपर्युक्त आलोचना से ही इनका विशेष सम्बन्ध है। फिर भी चिर-काल से चलती आई भारतीय परम्परा के भीतर इन रूपो का स्थान बन गया है। ये भेद प्रथम प्रकार की आलोचना-पद्धति की व्याख्या के रूप में है, अतः इन्हे हम व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति के विभिन्न रूप कह सकते हैं। इस व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति के प्रसंग मे हम विभिन्न नाम सुनते हैं जिनमे से कुछ अधिक प्रसिद्ध ये है—सूत्र, कारिका, फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वार्तिक, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि। ये शब्द सामान्यतया एक-दूसरे के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु इनके अर्थों और

उद्देश्यो में परस्पर भेद है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार है :

सूत्र—किसी सिद्धान्त या नियम का अति संक्षेप मे असंदिग्ध कथन सूत्र कहा जाता है। कहा भी गया है :

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विशतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

इस प्रसंग मे प्रसिद्ध ब्रह्म-सूत्र, वेदान्त-सूत्र, न्याय-सूत्र वैशेषिक-मीमांसा-सूत्रादि, दर्शन के क्षेत्र मे हैं और काव्यालंकार-सूत्र (वामन) नाट्य-सूत्र (भरत), काव्यकल्पलता-सूत्र (अरिसिंह) काव्यप्रकाश-सूत्र (मम्मट) आदि काव्य के।

कारिका—भी सूत्र के समान ही नियम या सिद्धान्त-कथन करती है व्याख्या नहीं, परन्तु सूत्र जहाँ पर केवल अति सक्षिप्त कथन-मात्र है, कारिका पद्यमयी सूक्ति होती है और सुस्मरणीय भी; जैसे साख्य कारिका[2] ध्वनि कारिका आदि।

फक्किका—कारिका के समान ही दूसरा शब्द फक्किका है जो सिद्धान्त-निरूपण से सम्बन्ध रखता है। किसी तथ्य के तर्क-संगत प्रतिपादन या स्पष्टीकरण की विशेष स्थिति को फक्किका[3] कहते हैं। यह बहुत प्रचलित शब्द नही है।

वृत्ति—किसी सूत्र आदि को स्पष्ट करने वाली संक्षिप्त व्याख्या वृत्ति कहलाती है। सूत्रो को स्पष्ट करने के लिए स्वय सूत्रकार के द्वारा अथवा अन्य किसी विद्वान् के द्वारा वृत्तियाँ लिखी गई हैं। कुछ प्रसिद्ध वृत्तियाँ हैं—आनन्दवर्धन की ध्वनि-कारिका पर वृत्ति, मम्मट की काव्य-प्रकाश पर वृत्ति, विश्वनाथ की न्याय-सूत्रो पर और अमरचन्द्र यति की काव्यकल्पलता वृत्ति आदि।

टिप्पणी—किसी कथन या व्याख्या के उपरान्त किसी अस्पष्ट अश को स्पष्ट करने या उसे शुद्ध अथवा पुष्ट करने के लिए कोई सूचना या वक्तव्य बाद मे जोड़ने का कार्य टिप्पणी कहलाता है। आजकल पृष्ठ के अन्त में टिप्पणी देने की प्रथा है।

भाष्य—सूत्रार्थों की सूत्र में आये शब्दो और पदो की क्रमशः ऐसी व्याख्या, जिसमे साथ-साथ अपने द्वारा प्रयुक्त पदो का भी स्पष्टीकरण होता रहे, भाष्य कहलाता है। कहा है :

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदुः ॥

इस प्रकार ऊपर वर्णित व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकारो मे भाष्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। कुछ भाष्य तो अति प्रसिद्ध भी हैं—जैसे—पतंजलि का महाभाष्य, शंकर का वेदान्त सूत्र पर भाष्य, सायणाचार्य का ऋग्वेद संहिता पर भाष्य, वात्स्यायन का न्याय सूत्र पर भाष्य आदि।

वार्त्तिक – व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकारो में सर्वाधिक पूर्ण रूप वार्त्तिका है इसके अन्तर्गत किसी भी सूत्र-सिद्धान्त, तथ्य या नियम की इस प्रकार से पूर्ण व्याख्या की जाती है कि जो कहा

---

१. इन व्याख्याओं में यदि किसी विद्वान् को त्रुटि दीख पडे तो मैं उसके वास्तविक प्रामाणिक लक्षण द्वारा इसकी पूर्ति स्वीकार कर अपनी कृतज्ञता प्रगट करूँगा।—लेखक

२. कारिका— A memorial verse or collection of such verses on grammatical, philosophical or Scientific subject.

३. फक्किका—A position, an argument to be proved, a thesis or assertion to be maintained. Logical Exposition.—Apte

गया है वह स्पष्ट हो जाय, जो नहीं कहा गया है वह भी कह दिया जाय और जो ठीक ढंग से नहीं कहा गया उसे सुधारकर स्पष्ट कर दिया जाय।[1] भाष्य और वार्तिक में भेद यह है कि भाष्य में केवल मूल ग्रन्थ का आशय प्रकट किया जाता है जब कि वार्तिक में उससे सम्बन्धित और भी बातें मिलाई जा सकती हैं। वास्तव में वार्तिक ही व्याख्यात्मक आलोचना है। यह वृत्ति द्वारा स्पष्ट व्याख्या को और भी पूर्ण बनाता है वार्तिकों में प्रसिद्ध कात्यायन का पाणिनि-सूत्रों पर वार्तिक, कुमारिल भट्ट का मीमांसा का श्लोक और तन्त्र वार्तिक आदि हैं।

हिन्दी-काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत इस वार्तिक के कुछ और भी नाम मिलते हैं, जैसे—वार्ता, वचनिका, चर्चा। हिन्दी-रीति-शास्त्र के भीतर हम कह सकते हैं कि पद्य में दिये मूल लक्षणों के साथ साथ अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए जो गद्य में व्याख्या लिखी गई है उसी को किसी ने वचनिका, किसी ने चर्चा और किसी ने वार्ता कहा है। उदाहरणार्थ—कुलपति मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'रस-रहस्य' के भीतर पद्य में लक्षण देकर उनका स्पष्टीकरण जो अपने गद्य वार्तिक में किया है उसका नाम वचनिका रखा है। वे लिखते हैं :

वाचक व्यंजक लच्छ्यकौ शब्द तीन विधि होय।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीन विधि होय॥

वचनिका—अरु इन तीनौनि के व्यवहार ते न्यारी-सी प्रतीति करे सोऊ एक तात परजका प्रति कहत हैं याको शब्द नाहीं।" आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' में भी इसी प्रकार की वचनिका लिखी है। इसी प्रकार की वार्ता और चर्चा भी है। यहाँ पर प्रसिद्ध आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी की 'श्रृङ्गार-मंजरी' में आई 'चर्चा' की चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि वह वास्तव में वार्तिक का ही रूप है। यह बात उनके निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी जो १७०० ई० के व्रज भाषा के पण्डिताऊ गद्य का भी सुन्दर उदाहरण है :

> रस मंजरी, आमोद परिमल श्रृङ्गार तिलक रसिक प्रिया रसार्णव प्रताप-रुद्री व सुन्दर श्रृङ्गार सरस काव्य दश रूपक विलास रत्नाकर काव्यपरीक्षा काव्य-प्रकाश प्रमुख ग्रन्थ विचारि प्राचीन ग्रंथनि में लच्छन जुक्ति जुक्त तिनिको संग्रहकरि और प्राचीनोदाहरणानुसार नाइका भेद कल्पित कर तिनके लच्छन लषि कल्पि अरु जिनिके उदाहरन नहीं तिनिके उदाहरन बनाइ जिनिके नाम नाही तिनिके नाम राखि अजुक्त नाम स्थल विषे जुक्त नाम राशि विस्तार करन स्थल विषे विस्तार करि संक्षेप करन स्थल विषै संक्षेप करि सर्व स्थल साधारन लच्छन के साधारन उदाहरन करि प्राचीन प्राचीन लक्षननि में जो उपयुक्त उदाहरन हैं ते ते तत्तत् नाइका भेद में लिपि चर्चा ग्रन्थ गद्यरूप लच्छन उदाहरन ग्रन्थ पद्य रूप लच्छन उदाहरन नाइका भेद श्रृङ्गार, हास्य, करुना, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत सांत नव रसनि में श्रृङ्गार प्रधान है तातें श्रृङ्गार सालंबन विभाव नायिका नायक तिनिके सहाय सख्यादिक अंग रसानुकूल सात्विक भाव पूर्वोक्त ग्रन्थ वर्नित पद्मिन्यादि जाति संकर भेद ऐसे प्रकार सरस आरोपि विशेष निरूपियतु है।
>
> ('श्रृङ्गार मंजरी' चिन्तामणि)

इसके भीतर वार्तिक लिखने का उद्देश्य लक्षित होता है परन्तु यह उससे भिन्न इस बात

---

१. उक्तानुक्त दुरुक्तार्थं व्यक्तकारितु वार्त्तिकम्।

में है कि यह किसी दूसरे विशेष ग्रन्थ मे आये लक्षणो की व्याख्या और पूर्णता का प्रयत्न न होकर अपने ही लक्षणो की व्याख्या करके उन्हे पूर्ण बनाने का प्रयत्न है।

हिन्दी के भीतर व्याख्यात्मक आलोचना के ये वार्तिक रूप प्रायः अपनी ही पद्यमयी लक्षण-कृतियो की व्याख्या-स्वरूप ही आये है

टीका—या तिलक आदि किसी दूसरे की लिखी पुस्तक की व्याख्या है और यह भी वार्तिक रूप मे देखने को मिलती है। हिन्दी के १८वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य सूरति मिश्र द्वारा रचित केशव की रसिक-प्रिया की 'जोरावर प्रकाश' नामक जोरावरसिंह के आश्रय में लिखी गई यह टीका इसका उदाहरण है :

जैसे रसिक प्रिया बिना देखिये दिन-दिन दीन।
त्यों ही भाषा कवि सबै रसिक प्रिया करि हीन ॥१५॥

या रसिकप्रिया के पढ़े रति मति अति बढ़ै अरु सब रस कहा नवरस तिनकी रीति जानै अरु स्वारथ कहा चातुर्यता लहै सब राज पूजा को वल्लभ होई या भाँति तौ स्वारथ लहैं अरु श्री राधाकृष्ण कौ वर्ननु है या मै तिनके ध्यान ते परमार्थ लहै या रसिक प्रिया को प्रीति ते दोऊ बात सिद्ध होयँ ॥१५॥

इस प्रकार टीका के अन्तर्गत प्रायः भाष्य, वृत्ति, वार्तिक आदि सभी रूप समाविष्ट हो गए हैं।

व्याख्यान—जिसे हम आजकल भाषण के रूप मे प्रयुक्त करते हैं वह वास्तव मे किसी सिद्धान्त या भाव को किसी आख्यान से स्पष्ट करने वाली व्याख्या है। परन्तु अब इस शब्द ने अपना वह अर्थ छोड़ दिया है और यह भाषण के अर्थ मे ही रूढ़ हो गया है। इस प्रकार एक और शब्द 'अवतरणिका' का भी प्रयोग मिलता है जिसके भीतर किसी बड़े कथानक या प्रबन्ध का सार लेकर व्याख्या करते है।

ये समस्त रूप भारतीय व्याख्यात्मक आलोचना के भेद हैं। ये भेद जिस प्रकार साहित्य के सिद्धान्त या सूत्र के लिए आते हैं उसी प्रकार काव्य-कृतियो के लिए भी। काव्य-कृतियो के प्रसंग मे अधिक प्रचलित प्रकार टीका, तिलक, वचनिका या व्याख्या ही है। इन्हे भी हम भारतीय व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकार मान सकते हैं।

आधुनिक ऐतिहासिक आलोचना का विकास भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर देखने को नही मिलता। उसका उद्भव और विस्तार आधुनिक युग की देन है। हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि अनेक संग्रह-ग्रंथ, जिनके साथ कुछ कवियो या साहित्यकारो का कुछ परिचय भी रहता है, इस आलोचना का एक रूप प्रकट करते हैं। संस्कृत मे ऐसे उदाहरण—श्रीधर दास-कृत 'सूक्तिकर्णामृत' (१२०५) भगदत्त जल्हण कृत 'सूक्ति मुक्तावली' (१२५८) आदि और हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों में कालिदास हजारा, हाफिजुल्ला का हजारा आदि ग्रन्थ हैं। परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक आलोचना का बीसवीं शताब्दी में ही विकास हुआ है। संस्कृत-ग्रन्थो मे प्रायः इस आलोचना के रूप अब भी प्रस्तावना, भूमिका, उपोद्घात आदि के रूप मे तथा हिन्दी मे साहित्य के इतिहास और व्यक्तिगत कवियो के अध्ययनो मे मिलते है।

तुलनात्मक आलोचना का जो विस्तृत आधुनिक रूप है वह भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर देखने को नहीं मिलता। हाँ पूर्ववर्ती युगो मे कवियो की प्रशंसा मे कही हुई कुछ सूक्तियाँ

अवश्य मिल सकती है। इन सूक्तियो मे कुछ तो ऐसी हैं जो सामान्य रूप से कवियो की प्रशंसा करती हैं। जैसे :

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरा मरणजं भयम्॥

इसी प्रकार साहित्य-रसिक और आलोचको की प्रशंसा है :

जयन्तु ते सहृदयाः काव्यामृत निषेविणः।
येषा आह्लादनान्नन्यत् कवीनां स्वकृतेः फलम्॥

काव्य की प्रशसा भी इसी प्रकार की गई है जो साहित्यकार की कृति को विशेष आकर्षण प्रदान करती है। जैसे :

कं पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि।
किं वा काव्य रसः स्वादुः किं वा स्वादीयसी सुधा॥

सूक्ति मुक्तावली ४०३७

इस प्रकार की काव्य और कवियो की प्रशंसा मे लिखी गई उक्तियाँ बहुत हैं। इसी प्रकार कवि-विशेष की प्रशंसा मे भी कही गई सूक्तिबद्ध आलोचना देखने को मिलती है जो भारतीय आलोचना-पद्धति का एक रूप स्पष्ट करती है। प्रायः सभी बड़े-बड़े संस्कृत के आचार्यों और कवियो की प्रशंसा मे लिखे इस प्रकार के वाक्य मिलते है। जैसे :

ध्वनिनाऽति गभीरेण काव्यतत्त्व निषेविना।
आनन्दवर्धन. कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

(राजशेखर)

× × × ×

नीलोत्पल दल श्यामां विज्ञातां नामजानता।
वृथैव दण्डिनाऽप्युक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥
कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दनश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापल मात्रं पदं दधति॥

(श्री शंकर वर्मा)

तुलनात्मक पद्धति पर एक साथ कई कवियो का मूल्यांकन करने का प्रयत्न भी किया गया है। जो कि विशेष रूप से आलंकारिक पद्धति पर ही आधारित है। इस पद्धति के दो-एक उदाहरण बड़े रोचक है :

यस्याश्चौरश्चिकुर निकरः कर्णपूरो मयूरो
हासो भासः कवि कुल गुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षः हृदय वसतिः पंचबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कविषु कविता कामिनी कौतुकाय॥

(जयदेव)

इसी प्रकार विशिष्ट गुणो का संकेत करने वाली भी सूक्तियाँ है। जैसे :

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इस प्रकार भारतीय आलोचना का आदर्श प्रकट हुआ है। व्यावहारिक आलोचना का क्रियात्मक रूप भी कहीं-कहीं ढूँढ़ने पर मिलता है। एक स्थान पर आलोचक जिस प्रकार से आलोचना करता है उसके कार्य का पूरा सजीव चित्रण, चित्रण ही नहीं उसका अभिनय-सा स्पष्ट करता हुआ चलता है। इस सम्बन्ध में यह कथन है :

उक्तं च वक्ष्यमाणं च भर्त्सन तिर्यगीक्षणम्।
क्वचिद्यथार्थ कथन व्याख्या तत्रस्य षड्विधाः ॥१०॥

सूक्ति मुक्तावली, ४०४१

इसमे आलोचना-पद्धति की छः विधियाँ स्पष्ट की गई है, जो इस प्रकार हैं : किसी कृति का नाम ले लेना, उसके सम्बन्ध मे कुछ अधिक बात कहना, निन्दा करना, तिरछे देखकर प्रशसा का भाव प्रकट करना, कुछ वास्तविक बात कहना और उसकी व्याख्या करना। इन कथनो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ये सूक्तियाँ केवल ऊल-जलूल कथन-मात्र नहीं वरन् वास्तविक आलोचना की दृष्टि अपने मूल में छिपाये हुए है। इस सूक्ति-पद्धति का अवलम्बन हिन्दी-साहित्य मे भी बराबर मिलता है, जिनके अनुसार बडे-बडे कवियो तुलसी, सूर, कबीर, केशव, बिहारी आदि की विशेषताओ और तुलनात्मक मूल्यो पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय आलोचना-पद्धति के उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय से हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि आधुनिक आलोचना-विधियो मे से बहुतो का तो उसके भीतर बीजाकुर भी नहीं मिलता, कुछ के अंकुर आधुनिक युग मे आकर पल्लवित हो रहे हैं और कुछ के रूप अर्द्ध-विकसित एवं कुछ अत्यन्त पूर्ण विकसित और उत्कर्ष की सीमा पर पहुँची हुई है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर सबसे अधिक सम्मान सैद्धान्तिक आलोचना को ही मिला है। व्याख्यात्मक और व्यक्ति-प्रधान आलोचना तो स्फुट रूप मे इधर-उधर ही मिलती है, किन्तु सैद्धान्तिक आलोचना का धारा-प्रवाह रूप बडा ही गम्भीर और विस्तृत है।

इस आलोचना-पद्धति की हमारे आज के युग मे बड़ी उपयोगिता है। आज हमारे सामने जो आलोचना के प्रमुख विकसित रूप है वे शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक, प्रभावात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि हैं। शास्त्रीय आलोचना के भीतर केवल काव्य-शास्त्र का ही आधार नहीं, वरन् राजनीति और समाज-शास्त्रो का भी आधार लिया जा रहा है और उसके आधार पर समाज-शास्त्रीय आलोचना का भी नाम सामने आ गया है। परन्तु वह वर्ण्य विषय की ओर लक्ष्य कर सकती है, शुद्ध साहित्यिक उत्कृष्टता को लाने मे उतनी सहायक नहीं हो सकती। हम कह सकते हैं कि आज सैद्धान्तिक आलोचना का अभाव है। आधुनिक आलोचना-पद्धति के इस रूप का विकास करने के लिए आलोचनात्मक लेख पढ़ना उतना आवश्यक नहीं जितना कि कला-कृतियाँ। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक कला-कृति को पढ़कर ही कुछ विचार या धारणा बना लेना भी सैद्धान्तिक आलोचक के लिए ठीक नहीं। कला-कृतियो के अनवरत अध्ययन और मनन के पश्चात् सामान्य विशेषताओ के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते हैं वे सैद्धान्तिक आलोचना के आधार बनते हैं। इस विषय मे मेरा निजी आग्रह तो यही है कि काव्य-कृतियो के व्यापक और गम्भीर अध्ययन का कार्य जमकर चलना चाहिए, पल्लव-ग्राहिता और एकागी प्रभावो का विश्लेषण आज की हमारी आलोचना-पद्धति को मौलिक बनाने मे बाधा-स्वरूप ही है।

डॉक्टर देवराज ने भी लिखा है कि समाजशास्त्रीय आलोचना सूर के साहित्यिक महत्त्व का उद्घाटन नही कर सकती।[1] सामाजिक जीवन और उससे उद्वेलित और प्रभावित व्यक्ति के जीवन-द्वन्द्वो मे जो कवि जितना गहरा पैठ सका है, उतना ही मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली साहित्य वह रचेगा। यह सम्भव है कि व्यक्तिगत जीवन पर ही कलाकार की दृष्टि केन्द्रित हो, किन्तु आलोचक यह नही भूल सकता कि व्यक्ति का जीवन सामाजिक द्वन्द्वो से निरन्तर प्रभावित होता है। सचेत रूप से सूर भी सामाजिक द्वन्द्वो के प्रति उदासीन रहे होंगे, किन्तु उनके काव्य पर समकालीन परिस्थितियो की छाप अवश्य है।

'भक्ति काल' के कवियो का दृष्टिकोण सामाजिक है, इसे अस्वीकार करना असम्भव है। सामाजिक पीड़ा के स्रोत से फूटकर उनके काव्य की धारा निकली है, और निरन्तर उन्होने इस जगत् के पाखण्डो और कुरीतियो पर दृष्टिपात किया है। उनके समय के सामाजिक संघर्ष का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके साहित्य मे है। सत्संग की महिमा यह कविगण गाते है; कलि के दुःखो से पार पाने की कामना अपने काव्य का ध्येय बनाते है। उनका मानवतावाद समाज के सामने उच्चतम आदर्श रखने की प्रेरणा उन्हे देता है। उस युग के संघर्ष मे भक्त-कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे; उसके हिरावल थे। खुले रूप से यह संघर्ष उस काल की शासन-व्यवस्था के विरुद्ध न था, किन्तु उन सभी सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओ पर, जो इस व्यवस्था का मूल आधार थी, यह सन्त-साहित्य का एक मर्म प्रहार अवश्य था। नीच-ऊँच का भेद, गरीब-अमीर का भेद, हिन्दू-मुसलमान का भेद यह सब दुराव भक्त-कवियो के दरबार मे नहीं चलते। हरि के यहॉ तो 'हरि को भजै, सो हरि का होई।'

अनेक अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरोध सन्त-कवियो के विचार-दर्शन मे पाये जाते हैं। इस क्रूर कलि-काल की पीडा से त्राण वे भगवद्भक्ति मे देखते है। तुलसी के विचार-दर्शन पर ब्राह्मण्यवाद की भी गहरी छाप है, जिसका उपयोग शासक वर्ग करता रहा है। आज के सांस्कृतिक संघर्ष का एक यह भी पक्ष है कि तुलसी-साहित्य के प्रगतिशील तत्त्वो को हम जनता के सामने उभार कर रखे, और तुलसी की परम्परा का उपयोग प्रतिक्रियावाद द्वारा रोके।

सन्त-साहित्य की विचार-धारा मूलतः मानवतावादी विचार-धारा है। यद्यपि यह वैज्ञानिक विचार-धारा नहीं है। सगुण उपसना की परम्परा शंकर के मायावाद के विरोध मे प्रतिष्ठित हुई थी। शंकर का दर्शन इस संसार को मिथ्या और माया मानता है; इसके विरोध मे रामानुज ने भक्ति-मार्ग की परम्परा चलाई, जो ईश्वर को भी मनुष्य-रूप मे देखती है, ईश्वर की लीलाओ की आड मे मानव जीवन की लीलाओ का वर्णन करती है और अपने साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से जोड़ती है। शंकर के अद्वैत की तुलना मे भक्त-कवियो का विचार-दर्शन प्रगतिशील, मानवतावादी और इहलोकमुखी है। इसी परम्परा का विकास और उसकी प्रौढ साहित्यिक अभिव्यक्ति हम सूर के काव्य मे पाते है।

: ३ :

'सूर सागर' के आरम्भिक पदो मे सूर बार-बार कहते हैं कि हरि के सामने 'जात, गोत, कुल' आदि का भेद नही टिकता। सज्जनो के संग की महिमा वे गाते है। तीर्थ, व्रत, नियम

1. आलोचना, प्रथम अंक, पृष्ठ ४२

आदि से वह हरि-भजन को अच्छा समझते है। पाखण्ड और ऊपरी आचार के सामने भावनाओ और सचाई का महत्त्व वे बहुत अधिक मानते है। इन्ही बातो को कबीर अपनी विद्रोही शब्दावली मे कहते है, और अमोघ शक्ति के समान उनके स्वर की चोट है।

पहले ही पद मे सूर समाज के अभिशप्त अंग की हित-कामना करते है :

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।...

इन भावनाओ की अभिव्यक्ति हम सभी भक्त-कवियो मे पाते हैं। आगे सूर कहते है :

राम भक्त-वत्सल निज बानो
जाति, गोत कुल नाम गनत नहिं, रंक होय के रानो।[1]

तुलसी 'विनय-पत्रिका' मे कहते है :

श्री रघुवीर की यह बानि।
नीचहूं सो करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद, पाँवर कौन तरकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यो, प्रेम की पहिचानि॥

अवहेलना का जो एक अन्तःस्वर तुलसी के पद मे है, सूर मे वह नही है। उपरोक्त पद से अगले मे ही सूर फिर लिखते है :

काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहत न आवै, व्याध अजामिल तारत।
कौन धौं जाति अरु पांति विदुर की, ताही के गृह हरि पग धारत॥[2]

द्वितीय स्कध के दूसरे पद मे सूर तीर्थ, जप, नियम आदि से भक्ति की महिमा अधिक बताते हैं :

जो सुख होत गोपालहि गाए।
सो नहि होत जप तप के कीने, कोटिक तीरथ न्हाए॥

सूरदास बार-बार कहते हैं कि कलि मे हरि-नाम ही 'आधार' है। इसी प्रकार दुर्जनो का संग त्यागने का आदेश भी सूर ने बड़े मर्मस्पर्शी शब्दो मे दिया है :

छांडि मन हरि-विमुखन को संग।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन मे भंग॥
कहा होत पय पान कराए, विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाए, श्वान न्हवाए गंग।

× × × ×

'सूरदास' खल कारी कामरि, चढत न दूजो रंग॥[3]

मिश्रबंधुओ ने सूर-साहित्य की इस विशेषता की ओर ध्यान दिलाया है।[4] सूर के काव्य-दर्शन मे सन्त-साहित्य की जनवादी परम्परा पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हुई है। इसके और भी

---

१. संक्षिप्त सूर सागर, इण्डियन प्रेस : प्रथम स्कन्ध पद ११
२. पद १२
३. प्रथम स्कंध, पद ११
४. 'हिन्दी-नवरत्न' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७२.

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु यह भी सच है कि सूर प्रधानतया प्रेम के कवि हैं, और मुख्यतः इसी विषय का विस्तार उनके साहित्य में हुआ है।

सूर ने श्रीमद्भागवत के कृष्ण का वर्णन अपने गीतो में किया है; इसमे भी विशेष रूप से दसवें स्कंध पर उन्होने अपनी काव्य-प्रतिभा केन्द्रित की है। 'महाभारत' अथवा 'गीता' के श्रीकृष्ण सूर के पात्र नहीं है। बाल कृष्ण और तरुण कृष्ण का ही बहुत विस्तृत वर्णन 'सूर सागर' मे हुआ है।

यद्यपि कवि के लिए कृष्ण की लीला प्रभु की लीला है, फिर भी मानव-जीवन के ही अनेक चित्र-विचित्रित, स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक वर्णन 'सूर सागर' मे हमें मिलते है। किस प्रकार कृष्ण अपनी माँ को खिझाते हैं, अन्य बालको से लड़ते हैं, दूध पीने मे आनाकानी करते हैं, अपनी चोटी बढ़ाना चाहते हैं, वात्सल्य के इन भावो का जैसा प्रभावशाली चित्रण सूर मे है, वह तुलसी मे भी नहीं। इसी प्रकार वियोग और संयोग शृङ्गार का अपूर्व प्रवाह इस रस-सागर में हुआ है। अन्त मे निर्गुण और सगुण उपासना से सम्बन्धित उद्धव और गोपियो के बीच हृदय को स्पर्श करने वाली एक वार्ता है, जिसमें हम अनन्य प्रौढ़ता, मार्मिकता और भावनाओ की गहराई पाते है। तीव्रतम अनुभूति, भावो का यथार्थ चित्रण और मनोदशाओ की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति इन गीतो में निरन्तर मिलती है। उद्धव और गोपियो की वार्ता तो आँसुओ का पारावार साथ लाई है।

सूर ने जयदेव और विद्यापति की गीत-काव्य की परम्परा अपनाई है। गीत किसी एक भावना, किसी एक तत्काल उड़ जाने वाले क्षण को बाँधकर रख लेता है। सूर अनुभूतियो मे डूबे और रँगे गीत पाठक को भावनाओ के किसी अद्भुत विकल संसार मे पहुँचाते हैं, जहाँ वह असहाय बूड़ता-उतराता है। यह गीत अनमोल रंगो की माला हैं, और हिन्दी-काव्य का शृङ्गार हैं। उनमे स्वस्थ मानव का चित्रण है और उनके अध्ययन से पाठक की भावनाएं परिष्कृत होती हैं। सूर की शृङ्गार-परम्परा रीतिकालीन कवियो के साहित्य मे ह्रास के पथ पर पहुँचती है; वह अस्वस्थ, निर्जीव रूढ़ि-मात्र रह जाती है जो सामन्तो और दरबारियो की कामुकता संतुष्ट करने का साधन बनती है। जीवन-पथ की संगिनी काव्य-परम्परा शीशमहल मे पहुँचकर अनन्य उल्लास से विलोड़ित और तरंगित जीवन को भूल जाती है। वह राजदरबारियो की चेरी और वारवधू बन जाती है।

सूर का शृङ्गार-वर्णन और अन्य लीलाओ का दिग्दर्शन मानव-जीवन का ही वर्णन है। सूर ने कृष्ण को ईश्वर के रूप मे कम देखा है, सखा के रूप मे अधिक। तुलसी के राम 'साहिब' हैं, 'गरीबनेवाज़' हैं, 'अशरण शरण' हैं; तुलसी उनके अनुचर हैं, दास हैं, नीचों से भी नीच हैं; वह अधम, पातकी, कीट, पतंग हैं। तुलसी-कृत राम-कथा निरन्तर आपको स्मरण दिलाती है कि वह मनुष्य का जीवन-वृत्त नहीं है, वह ईश-कथा है। 'सूर-सागर' आपको बाल्य काल और यौवन के सहज, स्वाभाविक जग मे पहुँचाता है। मिश्र-बन्धुओ ने सूर के 'सखा-भाव' की तुलना तुलसी के 'दास-भाव' से की है,[1] किन्तु शुक्लजी की आत्मा इस तुलना से संतप्त हुई है, और 'भ्रमर-गीत' की भूमिका मे उन्होने इस आरोप का उत्तर दिया है।[2]

---

१. 'हिन्दी नवरत्न' पृष्ठ १७४-१७५

२. 'भ्रमर-गीत-सार', पृष्ठ ४४-४५

तुलसी का राम से 'साहिब' और 'दास' का सम्बन्ध उनकी अतिशय राज-भक्ति का भी परिचायक है। तुलसी सदैव याद रखते है कि राम रघुवंश की सतान हैं। उनके विचार-दर्शन मे एक हद तक बाइबिल वाली भावना वर्तमान है : "जो सीज़र का है, वह सीज़र को दो।" सूर निरन्तर भूलते रहते हैं कि उनके सखा सूर-स्याम राजवश की उपज हैं। सूर की दृष्टि मे राज-दरबारो के प्रति अद्भुत उदासीनता का भाव है। न केवल सूर-साहित्य मे हमे तुलसी के अन्तर्विरोध कम मिलते है, वरन् कुछ दिशाओ मे हम सूर का दृष्टिकोण अधिक मानवतावादी और जनवादी पाते हैं। इसका एक उदाहरण उनका कृष्ण के प्रति सखा-भाव भी है।

: ४ :

सन्त-कवियो मे से अनेक कबीर और रैदास की भाँति जीवन के निम्नतम अभिशप्त और बहिष्कृत वर्गों की उपज थे। उनकी विद्रोही भावना इसी भूमि से फूटी थी। या वह विलास और ऐश्वर्य के माया-मोह से मुक्ति पा चुके थे, और राज-दरबारो से मुँह मोड़ चुके थे। जिस सामाजिक पीड़ा से द्रवित होकर वह सन्त बने, उसी ने उन्हे कवि भी बनाया। उनके काव्य मे कोई बनावट और शृङ्गार नहीं है, वह उनके हृदय की सच्ची वाणी है।

जीवन मे गले तक डूबकर और सच्ची अनुभूति पाकर ही सूर की प्रेरणा पल्लवित और पुष्पित हुई है। एक किम्वदन्ती है[१] कि सूर के मृत्यु-काल मे तुलसी उनसे आकर मिले। किसी ने सूरदास से पूछा: "आपने अपने गुरु का कोई पद क्यो नही बनाया ?" उन्होने उत्तर दिया : "मैंने सब पद गुरु जी ही के बनाए हैं; क्योंकि मेरे गुरु और श्री कृष्णचन्द्र मे कोई भेद नहीं है।" फिर भी उन्होंने एक पद रचा :

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो;
श्री वल्लभ-नख-चंद छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निबेरो;
'सूर' कहा कहि दुविधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।

कहते हैं कि अन्त मे सूर ने एक भजन कहा जिससे उनके नेत्रो मे जल आ गया। गोस्वामी जी ने पूछा : "सूरदास जी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" सूरदास ने नेत्रो पर यह अमूल्य गीत रचा और शरीर छोड दिया :

खंजन नैन रूप रस माते;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे, पल-पिजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि, उलटि ताटंक फँदाते;
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।

बडे तल्लीन होकर सूर ने काव्य-रचना की है। यही उनकी मार्मिकता, प्रौढ़ता और काव्य-विदग्धता का रहस्य है। अनुभव, सत्य और यथार्थ की पाठशाला मे सूर ने कविता लिखना सीखा था। कहते है कि सूरदास किसी स्त्री पर आसक्त हो, गए थे; अपने ऊपर क्षुब्ध होकर उन्होने अपनी आँखें फोड़ लीं। यह घटना सच हो या न हो इतना तो है ही कि सूर की अनुभूति बड़ी सच्ची और तीव्र थी। अनेक आलोचकों ने यह भी कहा है कि सूर के वर्णन इतने

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ १६८-१६९।

सजीव हैं कि वह जन्म के अन्धे कभी नहीं हो सकते। उन्होंने अवश्य ही इस संसार की सुन्दरता को प्रत्यक्ष देखा था, उसके सुख-दुःख सहे थे और उन्हीं स्मृतियों को उन्होंने अपने काव्य की गंगा मे प्रवाहित किया है।

प्रेम की अस्थिरता को लक्ष्य करके सूर कहते हैं :

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो;
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, सम्पति हाथ गह्यो;
सारंग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो।

जीवन की अनुभूत पीड़ा का यह स्वर कवि को कोई कला नहीं सिखा सकती। इसीलिए रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार-वर्णन सूर के सामने इतना फीका है। जीवन के अनेक तार सूर के राग मे प्रतिध्वनित और मुखरित हुए है। इनमे सर्वोत्तम वियोग-शृङ्गार के वर्णन हैं; क्योंकि इन पदों मे जीवन की अनन्य पीड़ा व्यक्त हुई है। वियोग की पीड़ा के अतिरिक्त भी सूर जीवन की व्यथा के अनेक क्षण जानते हैं। वह लिखते हैं :

सबै दिन एक से नहि जात।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को, जब लगि तन कुसलात॥
कबहूँ कमला चपला पाके, टेढ़े टेढ़े जात।
कबहुँक मग मग धूरि टटोरत, भोजन को बिलखात॥
या देही के गर्व बावरो, तदपि फिरत इतरात।......[1]

सूर का बाल-लीला-वर्णन बहुत सुन्दर और स्वाभाविक है। बालक कृष्ण माखन चुराकर खाते है; माँ उन्हे ऊखल से बाँध देती है। वह दूध पीना नही चाहते, माँ लालच देती है कि दूध पीने से चोटी बढ़ेगी। यशोदा कहती है :

कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढै।
सब लरिकन मे सुत सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढै॥
जैसे देखि और ब्रज-बालक, त्यों बल बैस बढै।[2]

कृष्ण पूछते हैं :

मैया कबहिं बढैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिबत भई, यह अजहू है छोटी॥
तू जो कहत बल की बेनी ज्यों, ह्वैहै लांबी, मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हावत आंछत, नागिनि-सी भ्वैं लोटी॥
काचो दूध पिवावत पचि पचि, देत न माखन-रोटी।[3]

बालक कृष्ण खेलने जाते हैं। गाय चराने के लिए वह जिद करते है। बलराम उन्हे

१. द्वितीय स्कन्ध, गीत २२
२. दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध गीत १५२
३. गीत १५४

चिढ़ाते हैं—तुम काले हो, नन्द और यशोदा गोरे है; वह तुम्हारे माँ बाप नहीं है; तुम्हे उन्होंने कुछ पैसे देकर खरीदा है :

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनो, तोहि यशुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हू नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात॥
गोरे नन्द, यशोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
तारी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥"[1]

इसी प्रकार कृष्ण-लीला के अनेक सजीव चित्र सूर ने खीचे है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियो और यशोदा के शोक का अत्यन्त हृदय-द्रावक वर्णन सूर ने किया है। इस सम्बन्ध मे उनका निम्न लिखित गीत बहुत प्रसिद्ध है :

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुञ्जै।
जे वै लता लगत तनु शीतल, अब भई विषम अनल की पुञ्जैं।
वृथा बहुत यमुना-तट खगरो, वृथा कमल फूलनि अलि गुञ्जै॥"[2]

इसी प्रकार के अनेक गीत सूर गहरी भावना के प्रवाह मे लिखते गए हैं। गोपियाँ कहती हैं :

"बटाऊ होहि न काके मीत।"[3]

अथवा—

"कहा परदेसी को पतियारो।
प्रीति बढ़ाय चले मधुबन को, बिछुरि दियो दुख भारो॥"[4]

गोपियाँ उद्धव से योग के विरुद्ध बहस करती हैं :

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै।
जापै ले आए हो मधुकर ताके उर न समैहै॥
दाख छाँडि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै॥"[5]

अनेक गीतो मे ऐसी व्यथा है, जो हिन्दी-काव्य मे अन्यत्र शायद ही मिल सके। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

"ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के संग, को आराधै ईस?"[6]

अथवा—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै, जब ते स्याम सिधारे॥
दृग-अंजन लागत नहि कबहूँ, उर-कपोल भये कारे।
कंचुकि नहि सूखत सुनु सजनी, उर-बिच बहुत पनारे॥"[7]

---

१. गीत १८८

२. गीत २७२१ ३. गीत २७३१ ४. गीत २७३२

५. 'भ्रमर-गीत-सार' गीत २४ ६. भ्रमर-गीत-सार, गीत २१० ७. गीत ३१६

'सूर सागर' के यह हृदय-द्रावक स्थल अवश्य ही हिन्दी-साहित्य में वियोग-शृङ्गार के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार की काव्य-रचना बिना जीवन का तल-दर्शी अनुभव किये और दुःसह, दारुण पीड़ा सहे असम्भव है। मानव-हृदय के करुणतम उद्गार सूर के इन पदों में व्यक्त हुए हैं।

अपने वर्णन मे सूर कहीं-कहीं अश्लील भी हो गए हैं, किन्तु यह अश्लीलता कामुक की विलासिता से सर्वथा भिन्न है। वर्णन के प्रवाह मे कवि बहता चला जाता है, और स्वस्थ मानव की चंचलता-मात्र ऐसे स्थल कहे जायगे। कहीं-कहीं परम्परागत रूढ़ वर्णन भी सूर मे मिलते है, उदाहरण के लिए :

अद्भुत एक अनूपम बाग।

किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

सूर ने नेत्रो के प्रति भी बहुत मर्मस्पर्शी पद लिखे हैं। अधिकतर नेत्रो की निन्दा ही इन पदो मे की गई है। यह नेत्र अपने वश मे नहीं हैं; निरन्तर ही यह बरसते रहते हैं। गोपियाँ कहतीं है :

तुम्हरे बिरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय ! नयनन नदी बढी।
लीने जात निमेष-कूल दोऊ, एते मान चढ़ी ॥[1]

यही भाव सूर ने अनेक गीतो मे व्यक्त किया है :

नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटत, सदा पावस ब्रज लागी रहत झरी ॥
बिरह इन्द्र बरसत निशि बासर, इहि अति अधिक करी।[2]

अथवा—

नैननि होड बदी बरषा सौं।
राति दिवस बरसत झर लाए, दिन दूरी करखा सौं॥
चारि मास बरसे जल खूटे, हारि समुझि उनमानी।
एतेहू पर धार न खंडित, इनकी अकथ कहानी ॥[3]

ब्रज-बालाओ ने उद्धव से जो बहस की है, उसमे उनके शोक और सतोष की गहरी छाया है, और इस जीवन की आशा-आकांक्षाओ के प्रति तीव्र आग्रह है। वह योग और निर्गुण विचार-धारा को कोई महत्त्व नहीं देतीं। उद्धव से वे पूछती है :

निर्गुन कौन देश को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दे बूझति साँच, न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी ?[4]

सूर-सागर की सम्पूर्ण धारा का आग्रह समाज के व्यापारों के प्रति है, और योग, माया आदि धारणाओं पर उनके साहित्य का तीव्र प्रहार है। गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं :

---

१. भ्रमर-गीत-सार, गीत २८१
२. संक्षिप्त सूर सागर गीत ३४५५
३. संक्षिप्त सूर सागर गीत ३४५७
४. भ्रमर-गीत-सार, गीत ६४

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनो अवराधै ?
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर, इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन विभूति मृगछाला, ध्यानिनि को अवराधै ?
'सूरदास' मानिक परिहरि कै, राख गाँठि को बाँधै ?[1]

यह जीवन मिथ्या है, यह संसार असार है, इस विचार-दर्शन के प्रति आस्था तोड़ने और जीवन में आस्था प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो सूर-सागर की रचना हुई थी। कवि का लक्ष्य जो भी रहा हो, उसके काव्य से मनुष्य के जीवन में आस्था बढ़ती है, उसकी भावनाएं परिष्कृत होती हैं, उसकी मानवता निखरती है।

: ५ :

'सूर सागर' में कवि ने प्रकृति का भी अपूर्व चित्रण किया है। इन चित्रों मे वर्षा का, रात का, अँधेरे का, बादलों का प्राधान्य है। 'सूर सागर'में वियोग शृङ्गार की प्रमुखता है, इसलिए आँसुओं के पावस की भी प्रचुरता है। प्रकृति का यह चित्रण अनुभूति से अतिरंजित है; कवि ने रूढ़ि का, परम्परा का अनुगमन अपने वर्णनो में बहुत कम किया है। सूर की प्रेरणा हमे व्रज के कुञ्जों में पहुँचाती है, जहाँ यमुना अवसाद में डूबी उदासीन बह रही है, और कृष्ण की मुरली की प्रतिध्वनि अब भी निनादित है।

गोवर्द्धन-लीला के सम्बन्ध में भी सूर ने बादलों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त क्रूर शासन-व्यवस्था से आतंकित व्रजवासी सावन-भादों की अँधियारी से घबराते हैं :

भादों भर की राति अँधियारी।
द्वार कपाट कोट भट रोके, दशहूँ दिशि कंस भय भारी॥
गर्जत मेघ महा डर लागत, बीच बढ़ी यमुना जल कारी।
तब ते इहै शोच जिय मोरे क्यों दुरिहै शशि बदन उज्यारी॥[2]

विरहिणी व्रज-बालाओ को तो पावस की अँधेरी से और भी डर लगता है :

पिया बिनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति॥[3]

इस पद का अर्थ शुक्ल जी इस प्रकार समझाते है : "साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काटकर उलट जाती है, जिससे सफेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है, वह ऐसी ही लगती है।"[4]

कितना गहरा और व्यापक 'आँधरे सूर' का अनुभव था, और कैसी तल-दर्शिनी दृष्टि उनकी थी। ऐसी महान् प्रतिभा के सामने आलोचक और पाठक केवल अपना शीश झुका सकता है।

---

१. भ्रमर गीत सार, गीत २७
२. संक्षिप्त सूर सागर, दशम स्कंध, गीत ७. ३. 'भ्रमर-गीत-सार' भूमिका पृष्ठ २६
४. 'भ्रमर-गीत-सार' भूमिका पृष्ठ २९-६

बादल से गोपियाँ हरि के पास सन्देशा भी पठाती हैं। ऐसे पदो को पढ़कर कालिदास के 'मेघदूत' की याद आती है :

"हरि परदेस बहुत दिन लाए;
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए।
बीर बटाऊ पंथी हो तुम, कौन देस ते आए ?
यह पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाए।..."[1]

'सूर सागर' मे प्रकृति की अनेक मुद्राओं के वर्णन हैं। इन गीतों मे हम ऋतुओं के अनेक परिवर्तन देखते हैं, रात और दिन के विविध क्षण पाते हैं। हर्ष और विषाद के अनेक भाव हमे यहाँ मिलते है। विषाद की प्रगाढ़ अँधियारी के बाद प्रभात का आलोक और उल्लास इस पद मे देखिए :

"जागिए गोपाल लाल ग्वाल द्वार ठाडे।
रैनि-अंधकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो, तारागण देखियत नहि,
तरणि किरणि बाढ़े॥
मुकुलित भए कमलजाल, गुन्ज करत भृङ्गमाल प्रफुलित बन पुहुप
डार, कुमुदिनि कुँभिलानी !
गंधर्व गुण गान करत, स्नान दान नेम धरत, हरत सकल पाप,
पढ़त विप्र वेद बानी॥"[2]

सूर की कला की प्रौढ़ता इन उद्धरणो से विदित है। उन्होने जीवन-अनुभव की तीव्र प्रेरणा से अपनी कला को सजाया है। रीतिकालीन कवियो की भाँति शास्त्र और परम्परा उनका अवलम्ब नही है। उनके काव्य के अलंकार बाहर से आरोपित नही हुए, वह उनकी प्रेरणा की अग्नि मे गलकर निकले है। सूर के संगीत की माधुरी, उनकी भाषा की सहज स्वाभाविकता, उसका मिठास सूर के काव्य की प्राण-ज्योति है। इन्ही गुणो के कारण सूर इतने लोकप्रिय हुए है। सूर के सगीत और भाषा की प्रौढ़ मधुरिमा और सहजता उनकी प्रेरणा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सूर ने मँझी ब्रजभाषा का अपने पदो मे प्रयोग किया है, सगीत की लहरी मे उसे प्रवाहित किया है, अपने पदो को उन्होने खराद पर चढाकर तराशा है।

सूर के गीत पाठक अथवा श्रोता की स्मृति पर अनायास ही चढ जाते है। यद्यपि सूर इतने लोकप्रिय कभी नही हुए, जितने तुलसी हैं, तुलसी से कुछ ही कम लोकप्रिय उनके गीत हैं। तुलसी की तुलना मे सूर मे काव्य-विदग्धता कुछ अधिक ही है, किन्तु उनकी कला मे तुलसी की-सी व्यापकता और सार्वभौमिकता नहीं है। जीवन के कुछ ही अंश सूर ने छुए है। किन्तु जो भी अंश उन्होने छुए है, उन्हे काव्य की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

सन्त-कवियो की कला से आज का प्रगतिशील कलाकार जनता के हृदय तक पहुँचने का रहस्य पा सकता है। तुलसी और सूर की वाणी जीवन के पथो और गलियारो मे व्याप्त है। इस वाणी मे जनवादी तत्त्व मुखर हैं, किन्तु इनके साथ अनेक विरोधी तत्त्व भी लिपटे हुए हैं। सन्त कवियो की जनवादी परम्परा को विकसित करके नए स्वर हमें इन पथो और गलियारो में

---

१. 'हिन्दी नवरत्न' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५६४--५६५.
२. संक्षिप्त सूर सागर दशम स्कन्ध २३२०.

व्याप्त करते है। किस प्रकार यह हम करें, तुलसी, सूर और कबीर की परम्परा से सीखना है।

सूर-साहित्य की अपनी अनेक सीमाएं हैं। सूर का विचार-दर्शन सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत प्रतिक्रिया नही है। यह दूसरी बात है कि किसी भी कलाकार के लिए सामाजिक यथार्थ से बचना असम्भव है। सामाजिक यथार्थ निरन्तर सूर के साहित्य मे व्यक्त हुआ है। सूर ने अपने काव्य को ऐसी कथा मे बॉधा है, जिसमे अनेक कपोल-कल्पनाएं, दन्त-कथाएं और रूढियॉ व्याप्त थीं। सहस्रो गोपियो की एक ही पुरुष के साथ प्रेम-लीला किसी आध्यात्मिक रूपक के आधार पर ही समझाई जा सकती थी। सूर ने अपनी दृष्टि जीवन के प्रेम-सम्बन्धी तत्वो पर ही डाली है। यह उनके साहित्य की आवश्यक और स्वाभाविक सीमाएं हैं। किन्तु सूर का दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी दृष्टिकोण भी है। उनके पद मानव-जीवन की तीव्रतम अनुभूति मे तपकर निकले हैं। सूर का शृङ्गार स्वस्थ प्रेम प्रदर्शित करता है। विरह, मिलन, व्यथा और तुष्टि के अमूल्य क्षण उनके काव्य में सुरक्षित हैं। रीतिकालीन कवियो की तुलना मे हम सूर के प्रेम-वर्णन की गगा का स्वच्छ और निर्मल प्रवाह भली-भॉति हृदयंगम कर सकते है। सूर के वर्णन हमारी मानवता को परिष्कृत करते है, और उच्चतर स्तर तक ले जाते है। सूर हिन्दी-साहित्य की मानवतावादी परम्परा मे एक अनमोल कड़ी है। आज का प्रगतिशील लेखक इस परम्परा का दायित्व आदर, स्नेह और यत्न से अपनाता है।

तुलसी, सूर, और कबीर—इन सन्त-कवियो की कविता-धारा की त्रिवेणी हिन्दी-साहित्य की मूल्यवान परम्परा है। इस त्रिवेणी मे स्नान करके ही आज का साहित्य-यात्री अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचेगा।

डॉक्टर नगेन्द्र

नव निर्माण

(हिन्दी-साहित्य की व्यापकता के उपादान)

मेरे-जैसे व्यक्ति के मन में, जो साहित्य को मूलतः एक व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया तथा प्रक्रिया मानता है, साहित्य के निर्माण या नव निर्माण की बात सहज ही नहीं बैठती। साहित्य शब्द को यदि हम वाङ्मय के अर्थ मे प्रयुक्त करें तब तो ठीक है। वाङ्मय के अन्तर्गत तो सृजन और व्यवहार अथवा रस और ज्ञान दोनो का साहित्य प्रायः आ जाता है। व्यवहार या ज्ञान का साहित्य जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और जिस तरह हम राज्य के नीति-विधान के अनुसार जीवन के अन्य व्यवहारगत स्थूल साधनो का निर्माण, संघटन अथवा आयोजन-नियोजन करते रहते हैं, इसी तरह उनसे सम्बद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है, और किया जाना भी चाहिए। और स्पष्ट शब्दो में, जहाँ तक हिन्दी के विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, आदि से सम्बद्ध पारिभाषिक साहित्य के नव निर्माण का प्रश्न है, वह सम्भव ही नहीं नितात वाछनीय भी है। इस क्षेत्र मे हिन्दी का कोष निर्धन है, और उसकी पूर्ति राष्ट्र का हिन्दी के प्रति, और हिन्दी का राष्ट्र के प्रति दायित्व है।

परन्तु प्रश्न रस के साहित्य का है जिसे डीक्विन्सी ने शक्ति का साहित्य कहा है; प्राचीन भारतीय अलंकार-शास्त्र मे जिसे काव्य, और आधुनिक पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में सृजन का साहित्य नाम दिया गया है। इसके निर्माण या नव निर्माण की सम्भावना कहाँ तक है?

हमारा साहित्य असम्पन्न नहीं है, फिर भी उसकी और अधिक श्री-वृद्धि किसको अप्रिय होगी। पर प्रश्न यह है कि क्या हमारे सचेष्ट एवं सगठित प्रयत्नों द्वारा यह सम्भव होगा? क्या सृजन के साहित्य का सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा निर्माण किया जा सकता है, और यदि किया जा सकता है, तो क्या वह सृजन का साहित्य होगा? वास्तव मे, 'सृजन के साहित्य का निर्माण' यह उक्ति ही एक स्व-विरोधी उक्ति है। सृजन किया नहीं जाता होता है, चेष्टापूर्वक योजना के अनुसार निर्माण किया जाता है, सृजन तो अनिवार्य प्रेरणा के दबाव से होता है। उदाहरण के लिए नागरी-प्रचारिणी-सभा एक सामूहिक प्रस्ताव द्वारा 'शब्द-सागर' का निर्माण करा सकती थी, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली तैयार करा सकती थी, राजनीति, अर्थशास्त्र पर ग्रन्थ प्रस्तुत करा सकती थी, अनेक प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन करा सकती थी, परन्तु 'पल्लव', या 'सेवा-सदन' की सृष्टि नहीं करा सकती थी। आज भी कोई सरकारी या गैर सरकारी संस्था वैधानिक शब्दावली का निर्माण करा सकती है, संविधान के एक, दो या तीन अनुवाद प्रस्तुत कर सकती है, परन्तु संविधान के मूल उद्देश्यो को सामने रखकर एक महाकाव्य की तो क्या, एक छोटे-से गीत की भी रचना नहीं करा सकती। इसका कारण स्पष्ट है—रस का साहित्य एक संगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नहीं है, वह व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजन

है। और व्यापक धरातल पर वह राष्ट्र का आत्म-साक्षात्कार तथा आत्माभिव्यंजन भी हो सकता है, और होता है, परन्तु उस रूप मे भी वह सामूहिक अथवा आयोजित प्रयत्न नही होता। उस रूप मे भी राष्ट्र व्यक्ति के ही चिन्तन द्वारा आत्म साक्षात्कार करता है, और व्यक्ति की ही वाणी मे आत्माभिव्यंजन करता है। उदाहरण के लिए गांधी के दर्शन में भारत ने आत्म-साक्षात्कार किया और रवीन्द्र की वाणी में आत्माभिव्यंजन। भारतीय रसाचार्यों ने इसी परम सत्य को अनुभव और विचार की कसौटी पर पूरी तरह कसकर देख लिया था। तभी उसने काव्य के हेतुओ में सामूहिक या आयोजित प्रयत्न की कल्पना तक नहीं की। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास ये तीनो ही वैयक्तिक गुण हैं—इन तीनो मे भी प्रतिभा को सर्वप्रमुख माना गया है, और प्रतिभा एकान्त वैयक्तिक सम्पत्ति है।

मैं यहाॅ परम्परा के आँचल मे शरण लेने का प्रयत्न नही कर रहा, बुद्धि को ही प्रमाण मान रहा हूँ। प्रतिभा को मैं अनिर्वचनीय जन्मान्तर-प्राप्त शक्ति के रूप मे नहीं ग्रहण कर रहा हूॅ, यद्यपि वैसा भी कोई माने तो मैं उससे विवाद नहीं करूॅगा। प्रतिभा को मैं यहाॅ चेतना के रूप मे मानता हूॅ। व्यक्ति की केन्द्रीय शक्ति जो अनुभूति, चिन्तन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएं करती है, चेतना है। चेतना की प्रखरता, गहनता, सूक्ष्मता आदि को ही प्रतिभा का नाम दिया जाता है। जिसकी चेतना मे ये गुण हो वही प्रतिभावान है, यह चाहे पूर्वजन्म के संस्कारो का परिणाम हो या इस जन्म की परिस्थितियों का। प्रतिभा का निर्माण नहीं किया जा सकता—वह इतनी जीवन्त है कि अपने निर्माता का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकती। हमारा संगठित प्रयत्न केवल एक ही सहायता कर सकता है और वह यह कि वह साहित्य-सृजन के लिए अनुकूल परिस्थितियाॅ उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिए राज्य यह कर सकता है कि वह साहित्यकार को साधारण निर्वाह की चिन्ताओ से मुक्त कर दे, संस्थाएं आदि खोलकर उसके साहित्य के प्रकाशन-वितरण आदि की उचित व्यवस्था कर दे। कुछ सीमित परिधि मे यही कार्य परिषदो, सम्मेलनो और सभाओ द्वारा किया जा सकता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं? यहाॅ भी मेरा दृष्टिकोण वही है। यदि आप मुझसे यह पूछें कि किन संगठित उपायो से हमारे साहित्य में व्यापकता का समावेश किया जा सकता है, तब तो मेरा उत्तर फिर यही होगा कि इस प्रकार के संगठित उपाय और साधन रस के साहित्य के लिए उपादेय नहीं हो सकते, व्यवहार के साहित्य के लिए उनकी उपादेयता अवश्य है। हो, इस प्रश्न को दूसरी तरह से लिया जा सकता है: ऐसे उपादान कौन-से हैं जिनके द्वारा साहित्य मे व्यापकता आती है—अर्थात् व्यापक साहित्य के उपादान-तत्त्व क्या हैं? हमारे साहित्य मे ये किस मात्रा में वर्तमान हैं, उनका विकास कहाॅ तक और किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा सकता है। साहित्य की व्यापकता का अर्थ है उसके क्षेत्र की व्यापकता और उसके प्रभाव की व्यापकता। और इन दोनो के लिए सबसे पहली आवश्यकता है साहित्यकार की चेतना की व्यापकता। चेतना की व्यापकता वास्तव मे साहित्य की व्यापकता का मूल उपादान तत्त्व है। चेतना की व्यापकता का सर्व प्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता—जिस साहित्यकार का भाव जगत् जितना विस्तृत, अनेक रूप तथा समृद्ध होगा उतना ही व्यापक उसके साहित्य का क्षेत्र होगा। जिस कवि या साहित्यकार को जीवन के विभिन्न पक्षो का अनुभव है, जिसने जीवन को गहरे में जाकर भोगा और सहा है,

उसी का भाव-जगत् विस्तृत और समृद्ध होता है। व्यापक अनुभूति का एक अतर्क्य प्रमाण यह है कि उसमें परस्पर-विरोधी पक्षों को भी ग्रहण करने की क्षमता होती है—उसके राग की परिधि में अनुकूल-प्रतिकूल, स्व-पर, सत्-असत्, सुन्दर कुरूप, मधुर-कटु, और विराट तथा कोमल सभी के लिए अवकाश रहता है। यही नहीं, उसकी अनुभूति की आँच में परस्पर-विरोधी तत्त्व घुल मिलकर एक हो जाते हैं। वास्तव में यह समन्वय चेतना की सबसे बड़ी सिद्धि है। व्यापक साहित्य का मूल उपादान यही है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य को नाना रसों से विभूषित होना आवश्यक माना है। विदेश के मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचार्ड्स ने ट्रेजेडी अर्थात् दुःखान्त कथा को इसीलिए काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। उन्होंने काव्य का उद्देश्य माना है मनोवृत्तियों का समीकरण, और अन्तर्वृत्तियों में जितना ही अधिक विरोध होगा, उनका समीकरण उतना ही सफल और पूर्ण होगा। दुःखान्त कथा में करुणा और भय का सामंजस्य है - करुणा आकर्षक वृत्ति है, और भय विकर्षक। अतएव ये दोनों नितान्त विरोधी वृत्तियाँ हैं, और इनका सामंजस्य स्वभावतः ही रचयिता की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य की व्यापकता का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होता है। प्रभाव की दृष्टि से तो इस उपकरण का महत्त्व और भी अधिक है। साहित्य मूलतः हृदय का व्यापार है और इसका माध्यम स्पष्टतः अनुभूति है।—मानव-मानव के हृदय में देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ जो एक तार अनुस्यूत है, वह है राग। यह वह तार है जो हजारों वर्षों और मीलों के आर-पार आज भी वाल्मीकि या होमर और हमारे हृदय के बीच एक साथ झंकृत हो उठता है। रागात्मक जीवन के धरातल पर मानव-जीवन के सभी स्थूल-भौतिक भेद मिट जाते हैं। यह शुद्ध मानवीय धरातल है, और शाश्वत साहित्य का सहज धरातल यही है। इसकी स्वीकृति चिरतन मानव-मूल्यों की स्वीकृति है। जीवन के अन्य मूल्य जैसे नैतिक, बौद्धिक, या राजनीतिक—जो बौद्धिक मूल्यों का ही निचला स्तर है, साहित्य के लिए विशेष उपादेय नहीं है। नैतिक मूल्यों की कठोरता साहित्य की कोमल आत्मा को सह्य नहीं, बौद्धिक मूल्यों की भेद-वृत्ति साहित्य की अखण्ड रसमयी आत्मा को प्रिय नहीं। मानव अपने अन्ततम रूप में जो है—वही साहित्य का विषय है; वहाँ वह न नीतिवादी है, और न बुद्धिवादी—वहाँ वह रागात्मा है, और उसी से साहित्य का सीधा सम्बन्ध है। भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इसी परम सत्य की घोषणा की है। साहित्य के अन्य उपादान हैं : कल्पना विचार, और अभिव्यक्ति। परन्तु ये तीनों अनुभूति से स्वतः सम्बद्ध हैं। कल्पना और विचार-क्षेत्र की व्यापकता व्यापक अनुभूति का प्राय सहज परिणाम ही होती है—जिसका अनुभव-क्षेत्र व्यापक है उसकी कल्पना भी निश्चय ही व्यापक होगी और विचारों में भी व्यापकता होगी। इसी प्रकार अभिव्यक्ति भी पूर्णतः अनुभूति के आश्रित है। इन सभी के इसी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के कारण क्रोचे ने काव्य का केवल एक उपादान माना है, और वह है सहजानुभूति; जिसमें उन्होंने अनुभूति, कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति सभी का समावेश कर दिया है।

इस प्रकार मेरे मन्तव्य का सार यह है कि साहित्य की व्यापकता का मूल और एक-मात्र उपादान चेतना की व्यापकता है। हिन्दी-साहित्य में अब तक जो व्यापकता है उसका कारण उसके साहित्यकारों की चेतना का यही विस्तार है। प्रेमचन्द के साहित्य की व्यापकता के लिए

उनकी चेतना की व्यापकता ही उत्तरदायी है, जो जाति और वर्ग की भावना से सर्वथा ऊपर थे और जिसमे समस्त उत्तर-भारत की जन-चेतना अन्तर्भूत हो गई थी। अब स्वतन्त्रता के बाद भारत के जीवन मे व्यापक परिवर्तन हुआ है। भारत की राष्ट्रभाषा होने के बाद हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वह अब उत्तर-भारत की भाषा न रहकर सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है और धीरे धीरे उसका प्रयोग बढता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिन्दी-भाषा और साहित्य का स्वरूप व्यापक होगा। जब बगाली, गुजराती, मराठी और दक्षिण की समृद्ध भाषाओ के साहित्यकार इस भाषा को बोले और लिखेंगे तो उनकी अभिव्यंजनाएं, उनके मुहावरे और कहावते, उनकी रचना-भगिमाएं निश्चय ही इसमे आयगी और इसका रूप अधिक व्यापक और लचीला होता जायगा। इस प्रकार साहित्य की व्यापकता भी अनिवार्य है। अब हिन्दी-साहित्यकार एक प्रदेश का नागरिक न रहकर भारत का नागरिक बन रहा है, उसका पाठक-समाज बृहत्तर होता जा रहा है। जिसमे नाना प्रकार की अभिरुचि और संस्कारो के नर-नारियों का समावेश हो रहा है। इन सब कारणो से उसकी अपनी चेतना का विस्तार होना अनिवार्य है। जब वह प्रयाग या दिल्ली, उत्तर प्रदेश या बिहार के धरातल पर नही प्रत्युत भारतीय धरातल पर भावन करेगा, तब स्वभावतः ही वह भारतीय साहित्य की सृष्टि करेगा। उसका रसात्मक प्रभाव कही अधिक व्यापक होगा, उसमे बगला की भावोष्ण कला, मराठी की दृढ़ता, गुजराती की व्यावहारिकता, दक्षिण-भाषाओ की संस्कारिता, और उर्दू की चटख और चमक हिन्दी की समन्वयशीलता मे पगकर एकरूप हो जायगी। इस दिशा मे भी हमारा सगठित प्रयत्न केवल अनुकूल परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए भारत की समृद्ध भाषाओ के प्राचीन-नवीन ग्रन्थो के अनुवाद की व्यवस्था इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। उनके अध्ययन और मनन से हिन्दी के साहित्यकार को अपनी निपुणता (Culture) का विकास करने मे सहायता मिलेगी। उसकी चेतना की समृद्धि मे भी इस अनूदित साहित्य का बड़ा योग होगा। दूसरा उपयोगी प्रयत्न हो सकता है अन्तर्साहित्यिक-केन्द्रो की स्थापना। इनके द्वारा हिन्दी का साहित्यकार भारतीय साहित्यिको के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क मे आ सकेगा। प्रत्यक्ष सम्पर्क का अपना विशेष लाभ है—उसमे व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श चेतना को स्फूर्ति प्रदान करता है। तीसरा एक और भी आयोजन हो सकता है और वह कदाचित् अधिक उपयोगी हो सके—हिन्दी के माध्यम से भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यो की मूल प्रवृत्तियो का विश्लेषण करके समान तत्त्वो का संयोजन किया जाय। इससे एक तो भारतीय साहित्य की समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकेगी, दूसरे हिन्दी और हिन्दी की भाँति दूसरी भाषाओ के साहित्यकारो को व्यापक धरातल पर भावन करने मे भी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार के और भी प्रयत्न सम्भव हैं। इनसे साहित्यकार की चेतना के उस अग की श्री-वृद्धि मे सहायता मिलती है जिसे शास्त्र मे 'निपुणता' कहा गया है—क्योकि 'निपुणता' ही एक ऐसा गुण है जो यत्न-साध्य है। परन्तु अन्त मे, मैं फिर निवेदन कर दूँ कि ये प्रयत्न केवल परिस्थिति-मात्र ही बन सकते हैं—प्रेरणा नहीं। प्रेरणा या दिशा-निर्देशन की भी दृष्टि से इनका योग इतना भी नहीं जितना कि यातायात की गति-विधि या नियंत्रण मे चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही का।[1]

---

१. आल इण्डिया रेडियो, नई दिल्ली के सौजन्य से।

डॉक्टर सत्येन्द्र

प्रेमचन्द के बाद : उपन्यास-साहित्य का प्रवृत्ति-विकास

प्रेमचन्द से पूर्व : सामाजिक आदर्शवाद

उपन्यासों का आरम्भ भारतेन्दु-युग से ही मानना चाहिए । भारतेन्दु-युग मे कितने ही नये-नये भाव उठ रहे थे, और वे प्रेस तथा प्लेटफार्म, पुस्तको तथा प्रवचनो के द्वारा समाज मे प्रचारित भी हो रहे थे । इनकी दो दिशाएं थीं—एक राजनीतिक, दूसरी सामाजिक ।

राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय भावना का पोषण तथा उत्तेजन कांग्रेस की स्थापना के कारण प्रबल हो उठा था। साहित्य में बंगाली उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं से राष्ट्रीय भाव को अमर वाणी प्रदान करने की चेष्टा की । 'आनन्द मठ' तथा 'देवी चौधरानी' आदि उपन्यासो मे ऐतिहासिक वृत्तो पर राजनीतिक विद्रोह के भावो के बीज बोये गए थे। हिन्दी मे इनके अनुवादों की पूरी प्रतिष्ठा थी ।

सामाजिक दृष्टि से आर्य समाज और ब्रह्म समाज की उद्‌भावना हो चुकी थी । आर्य-समाज ने विशुद्ध भारतीयता को उत्तेजित किया । इस भारतीयता का दार्शनिक आधार वैदिक साहित्य था । इसी को प्रमाण माना जाता था । और आचार-निर्माण की कसौटी स्मृतियो से प्राप्त की गई थी । ब्रह्म समाज ने दार्शनिक आधार तो वैदिक साहित्य ही मे स्वीकार किया, किन्तु आधार के लिए स्मृतियों से प्रेरणा पाकर भी उसे पाश्चात्य प्रणाली के अनुकूल ढालने की चेष्टा की । इन सामाजिक आन्दोलनो से, जो उस युग मे धार्मिक माने गए, मनुष्य मे रेशनैलिटी, बौद्धिकता का उदय हुआ । बुद्धि-संगत बात ही मान्य समझी जाने लगी । सामाजिक भूमि मे इसके व्यावहारिक पहलू ने कितनी ही सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन आरम्भ किया । विधवा-विवाह, बाल-विवाह-निषेध, अछूतोद्धार, जाति-पाँति तोड़ना, वेश्याओं का बहिष्कार, स्त्री-शिक्षा आदि इनके रचनात्मक कार्य-क्रम के एक आवश्यक अंग थे । इन आन्दोलनों ने भारतीयता मे अखण्ड विश्वास उत्पन्न किया । अपने इतिहास तथा गौरव के उज्ज्वल स्वरूप के प्रस्तुत करने में इस युग के लेखकों तथा विचारको ने स्तुत्य उद्योग किया और वे उसमे पूर्णतः सफल हुए। इस युग का विचारक आदर्शवादी हो उठा ।

हिन्दी का इस युग का साहित्य इसी भारतीय आदर्शवादी भावना से ओत-प्रोत है । हिन्दी के अपने उपन्यासो में यही सुधारक आदर्शवाद झलक रहा है । हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारो मे श्रीनिवासदास तथा बालकृष्ण भट्ट का नाम यहाँ लिया जा सकता है । इन दोनो में इसी सामाजिक सुधारवादिता की अभिव्यक्ति है । लाला श्रीनिवास दास उपन्यासो की नई शैली का उद्‌भव करने के लिए प्रसिद्ध हैं, यह नवीन शैली केवल औपन्यासिकता लाने की शैली है । विषय वही सामान्य है ।

उन्मुक्त कल्पनाशील औपन्यासिकता : त्रिमूर्ति : त्रिरूप

इस सामाजिक आदर्शवादिता का इतना गहरा आतंक था कि भारतेन्दु-युग के अन्तिम चरण में जिस उन्मुक्त कल्पनाशील औपन्यासिकता के दर्शन हुए उसमें भी इसकी व्याप्ति रही। इसका एक कारण यह था कि सुधारवादी आन्दोलन ने उस समस्त नैतिक आचार की प्रतिष्ठा और परिपुष्टि की थी जो भारतीय परम्परा में रूढ़ था। इस युग की बौद्धिकता रूढ़ सामाजिक आचारों के लिए युक्ति, तर्क और विवेक प्रस्तुत करने मे प्रवृत्त थी। बौद्धिकता एक गहरी श्रद्धा पर निर्भर करती थी। वह श्रद्धा अपने प्राचीन ऋषियों की महानता मे थी, और उनके द्वारा निर्णीत समाज-विधान पर भी। फलतः बौद्धिकता ने उस समाज विधान के नैतिक आचारो के लिए विवेकपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर दी। इससे अपने गौरव मे आस्था और भी बढ़ी; श्रद्धा भी बढ़ी। रूढ़ सामाजिक आचार के कुछ मूल स्तम्भ थे : जैसे स्त्री का पातिव्रत्य या सतीत्व। सतीत्व का वह निकृष्ट रूप हटा दिया गया था जो स्त्री को पति के साथ जल जाने को विवश करता था। स्त्री के इस आत्म-घात ने पातिव्रत्य की रीढ़ का स्थान ग्रहण कर लिया था, किन्तु शुद्ध पातिव्रत्य स्त्री के अखण्ड-अदिग पति प्रेम पर निर्भर करता है। देवकीनन्दन खत्री के उन्मुक्त कल्पनाशील उपन्यासो मे नायिकाएं उसी प्रकार पतिव्रता हैं जिस प्रकार सीता।

उन्मुक्त कल्पनाशील औपन्यासिकता उपन्यास के कथा-विधान की व्यवस्था में विलक्षण होती है, किन्तु वह उसके तारतम्य को विपर्यस्त और च्युत नहीं होने देती। वह अद्भुत आश्चर्य-जनक तिलस्मो और ऐयारियो के घटाटोप के द्वारा पाठक को उत्कण्ठित करने और कौतूहलों के उद्वेगकर समाधान में विश्वास रखती है, पर एक घटना से दूसरी के तारतम्य को ठीक बनाये रखने मे अत्यन्त सचेष्ट है।

इस युगाश में तीन प्रतिभाशाली व्यक्तित्व मिलते हैं, एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। खत्री जी की लेखनी का जादू अत्यन्त प्रबल था। ये अपने समय में साहित्यकार नहीं माने जाते थे, आज भी यथार्थतः इन्हे साहित्यकार माना जा सकेगा, इसमे सन्देह है। किन्तु हिन्दी को लोकप्रिय बनाने और हिन्दी-साहित्य में उपन्यासो के विकास में एक कड़ी प्रस्तुत करने की दृष्टि से इतिहासकार इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार का एक दूसरा व्यक्तित्व श्री गोपालराम गहमरी का था। गहमरी जी जासूसी उपन्यासो के लेखन में प्रसिद्ध रहे। इन्हे भी अपने युग में साहित्यकार नहीं माना गया था, किन्तु बाद में इनका उल्लेख आदरपूर्वक किया जाने लगा।

तीसरा व्यक्तित्व पं० किशोरीलाल गोस्वामी जी का था। आपने हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों का श्रीगणेश किया। किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासो में भी इतिहास की अपेक्षा औपन्यासिकता, रोमान्स और खत्रीजी तथा गहमरी जी की शैली की तिलस्मी ऐयारी तथा जासूसी का प्राधान्य रहता। रोमान्स में प्रेम की साहसिकता की अपेक्षा विलासी रसिकता मिलती है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में ही विलासी रसिकता की मनोवृत्ति के कारण पहली बार तत्कालीन सामाजिक आदर्श से च्युति मिलती है। जहाँ खत्री जी और गहमरी जी के पात्र पुरुषों में राम की भाँति और स्त्रियो मे सीता की भाँति हैं, जहाँ भारतीय दृष्टिकोण से माने जाने वाले पाप को दण्डित किया जाता है, और पुण्य चरित्र को पुरस्कृत किया गया है, दुश्चरित्रता और अत्याचार को न तो क्षमा ही किया गया है, न श्लाघ्य ही माना गया है, वहाँ किशोरीलाल गोस्वामी जी ने

उन चरित्रों को प्रस्तुत किया है जिनमे रसिकता तथा यौन आकर्षण है और इसके लिए पर-पुरुष और पर-स्त्री के कामुक मिलन के लिए अनेका अद्भुत आश्चर्यजनक उपाय और काण्डों की कल्पना की गई है। किन्तु यह लेखक आरम्भ से ही साहित्यकार माना गया है, साहित्य-महारथियों मे अपने युग मे इनका एक प्रमुख स्थान था। ये बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय को अपना मित्र बताते थे। उपन्यासों की वस्तु इतिहास से ली जाय यह बात इन्होंने बंकिम के सम्पर्क से प्राप्त की होगी पर उनकी ऐतिहासिकता मे 'लन्दन-रहस्य' के लेखक की वृत्ति काम कर रही है, इसमें कोई सन्देह प्रतीत नही होता।

इन त्रिमूर्तियों के उपन्यास-सृजन के त्रिरूपों पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उपन्यासकार अब भी राजा महाराजाओं की कहानी लिखने मे रुचि रखता है। एक यदि कल्पना लोक से राजाओं को अवतीर्ण करता है तो दूसरा इतिहास-जगत् से। समस्त वातावरण सामन्तवादी है। इन तीनो उपन्यासकारों में से देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों मे विशेष मौलिकता इस दृष्टि से है कि उन पर साधारणतः कोई बाह्य प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। गहमरी जी पर पूर्णतः अंग्रेजी जासूसी उपन्यासों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गोस्वामी जी की प्रेरणा का निरूपण ऊपर किया ही जा चुका है। इन उपन्यासों ने जहाँ सामाजिक आदर्शों का एक स्तर बनाये रखा, वहाँ हिन्दी को और भी अधिक रूपवती बनाने तथा भाषा को प्रभावपूर्ण करने मे क्रियात्मक सहयोग प्रदान किया। एक विशेषता इस काल के औपन्यासिक क्रम से यह सिद्ध हुई कि सुधारवादी मनोवृत्ति की रूक्षता तथा संकीर्णता की परिखाएं टूट चली और उपन्यास अपना स्वाभाविक स्वरूप प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुआ। उपन्यास का लक्ष्य उपदेश देना अथवा किसी आदर्श को आदर्श की दृष्टि से प्रस्तुत करना या लेखक के समाज और उसके सुधार और उसके लिए आदर्श प्रस्तुत करने का ही नही है। ऐसे लक्ष्य उसको संकीर्ण बना देते हैं। उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य घटनाओं और पात्रों के माध्यम से मनुष्य की आनन्द-अनुसन्धित्सु प्रवृत्ति को आकृष्ट और मुग्ध किये रहना है। इस मूल उद्देश्य की पूर्ति मे यदि उसे ज्ञानोत्कण्ठा, सुधार-वृत्ति, जीवन-दर्शन, नैतिक शिक्षा आदि का प्रसग समावेश करना पड़ जाय तो कोई आपत्ति नही; किन्तु इन सबका समावेश बहुत ही स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। इन्हे उपन्यासों को विशद करने मे सहायक होना चाहिए, सकीर्ण बनाने मे नहीं। फलतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य मे औपन्यासिकता इसी त्रिमूर्ति की देन है। यही नहीं औपन्यासिकता के साथ यह श्रेय भी इन्ही उपन्यासकारों को है कि इन्होंने उपन्यासकार की दृष्टि समाज तथा समाज मे निबद्ध व्यक्तित्व से पृथक् की और यह सिद्ध किया कि घटनाओं और पात्रों मे किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की दृष्टि से ही रुचि उत्पन्न नही होती। वरन् घटनाओं और पात्रों की अपनी स्थिति और वैयक्तिकता की अपनी विलक्षणता ही आकर्षण अथवा रुचि का कारण बनती है, इस प्रकार इस अवस्था मे औपन्यासिकता के लिए उपन्यास के अपने दृष्टिकोण से स्वाभाविक गुणों की वृद्धि के लिए तथा उपन्यास की घटना और पात्रों के निजी मूल्य के लिए, प्रेरणा का स्रोत प्रस्तुत हो गया।

हिन्दी-उपन्यासों की प्रथम स्थिति

यहाँ तक औपन्यासिकता को तो स्वाभाविकता की ओर ले जाने के प्रयत्न मिले, किन्तु अभी तक यथार्थ उपन्यास नहीं बन पाए थे। उनमे लोक-कहानियों की प्रवृत्ति कार्य कर रही थी।

कल्पना का मनचाहा उपयोग उपन्यासो मे नहीं हो सकता। घटनाएं उपन्यासो मे यथार्थ जीवन के अनुकूल होनी चाहिए। जादू भरी तिलिस्म तथा ऐयारी का उपन्यासो में सम्भान नही हो सकता। पात्र का अपना व्यक्तित्व और चरित्र होता है, जिनका चित्रण मनोवैज्ञानिकता के अनुकूल होना चाहिए। अतः उपन्यासो का वास्तविक जन्म हिन्दी मे प्रेमचन्द के द्वारा हुआ। प्रेमचन्द के समय से ही उपन्यासो की प्रथम स्थिति आरम्भ होती है। हिन्दी के उपन्यासो मे तीन स्थितियाँ दिखलाई पड़ती है।

प्रथम-स्थिति वह है जिसमे स्वस्थ-समग्र जीवन का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम स्थिति : स्वस्थ-समग्र जीवन

प्रेमचन्द से हिन्दी मे प्रथम स्थिति का आरम्भ होता है। समाज-सुधार-सम्बन्धी आदर्श-वाद की गूँज अब भी प्रबल थी। किन्तु उसके साथ ही राजनीति मे संघर्ष के स्वर विशेष उग्र हो उठे थे, और भारतीय जीवन मे सामाजिक आन्दोलनो के साथ राजनैतिक आन्दोलनों का गठबन्धन होने लगा था। काग्रेस ने भी राजनीति मे सुधारवादी मनोवृत्ति त्याग दी और उग्र राजनीति का प्रतिपादन उसमे होने लगा। ऐसे अवसर पर ही गाधीजी का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि गाधीजी समाज-सुधारवादी मनोवृत्ति का आश्रय लेकर चले। फिर भी उन्होने उस सबका पर्यवसान राजनीति मे कर दिया। धीरे-धीरे सुधारवादी मनोवृत्ति पर क्रान्तिकारिणी राजनीति का प्रभाव हो गया। इन्ही कारणो से प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'सेवा-सदन' आदि सुधारवादी आदर्श को लेकर चले। इस यात्रा के आरम्भिक स्थल से 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला मे हमे भारतीय जीवन के चित्र मिलते चले जाते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारत मे सुधारवादी मनोवृत्ति को साथ लेकर चलने वाली राजनीति ने सुधारवादी मनोवृत्ति को परास्त कर दिया। इस पृष्ठभूमि पर बनने वाले उपन्यासो मे जो एक बात विशेष परिलक्षित होती है वह यह है कि लेखक जीवन के चित्र प्रस्तुत करना चाहता है, वह जीवन को सम्पूर्ण पहलुओ मे से देखना चाहता है। समाज और मनुष्य दोनो को उसने उचित आदर दिया है। उसका दृष्टिकोण सर्वथा शुद्ध है। उसे कोई पूर्वग्रह (प्रेजुडिस) नही। उसने मनुष्य और समाज के स्वरूप को उसकी सम्पूर्ण समग्रता के साथ समझा है। साथ ही उसने बिना किसी अपने आग्रह के उसे ज्यो-का-त्यो प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, और जो सामाजिक समस्याए देश और समाज के समक्ष मुँह बाए खड़ी दीख पड़ती थी, उनके समाधान अथवा हल के विषय मे उसने जो-कुछ सुझाव उचित समझे वह भी प्रस्तुत किये हैं। यह उपन्यास मनुष्य और समाज के समझौते से सम्बन्ध रखते हैं। सुझावो मे इसलिए उसने संस्थावाद को विविध प्रकार की समस्याओ के हल के रूप मे प्रस्तुत किया है। बौद्धिक दृष्टि से बिना किसी सैद्धान्तिक आग्रह के उसे मनुष्य और समाज की उन्नति तथा दोनो के स्वास्थ्य और सौन्दर्य के लिए जो सुधार उचित प्रतीत हुए है उन्हीं को उसने प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध मे भी उसका आग्रह समाज-सुधारको की कोटि का नही हुआ है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रथम स्थिति में उपन्यासकार का दृष्टिकोण स्वस्थ और समग्र जीवन का प्रतिपादक रहा। प्रेमचन्द जी ने मानव और उसकी श्रद्धा को अक्षुण्ण रखा है। उन्होने दोषो और दुर्बलताओ से अपनी दृष्टि चुराई तो नहीं, किन्तु मनुष्य और समाज मे उसे इतनी प्रबल श्रद्धा है कि उसने गुणो तथा कल्याण भाव से कभी निराशा की सम्भावना उत्पन्न नही

होने दी। जीवन को समग्रता की दृष्टि से देखने के कारण ही इस काल के लेखक को गाँव और शहर के अलग-अलग वृत्त एक ही साथ प्रस्तुत करने पड़े हैं। यहाँ तक प्रथम स्थिति का एक रूप है। इसी प्रथम स्थिति का दूसरा पहलू प्रसादजी की लेखनी के द्वारा अवतीर्ण किया गया है। प्रसादजी ने समाज के आन्तरिक सम्बन्धों का विश्लेषण करके उसकी जर्जरता और उसका कंकाल दिखाया है। जीवन की समग्रता पर उनकी भी दृष्टि है। वे भी गावों को नहीं भूल सके हैं। किन्तु प्रेमचन्द जी की दृष्टि आस्थामय जीवन की कार्य-व्यवस्था की ओर है। प्रसादजी की दृष्टि मुख्यतः मनुष्य और समाज के यौन आचरणों के मूलाधार पर निर्भर करती है। प्रसादजी मे इसीलिए रोमान्स की रंगत दिखाई पड़ती है। इस रंगत से मनुष्य और समाज के गाँव और नगर के सामन्तवादी वातावरण का भी दिग्दर्शन होता है: फलतः जीवन के दोनों पहलू सजीव हो उठे हैं। दोनो को प्रस्तुत करते हुए भी हमें प्रसादजी ने केवल अधकार व निराशा से ही आच्छादित नहीं कर रखा।

इस प्रथम स्थिति का अन्त जीवन की समस्या पर विचार करते-करते होता है। प्रसादजी ने जीवन की ज्योति के दुर्वल पार्श्व दिखाये, वे भारत के समाज तथा भारत के परम्परागत संस्कारो मे अनास्था उत्पन्न करने वाले थे, और वलात् मनुष्य की दृष्टि पाप तथा पुण्य की ओर खींच ले जाते थे कि पाप और पुण्य पर हमारा दृष्टिकोण मानव और समाज की कसौटी को स्वीकार करके सापेक्षिक बने अथवा निरपेक्ष हो। प्रथम स्थिति की पृष्ठभूमि मे जो सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन चल रहे थे, उनके साथ इंगलैंड से आई हुई साहित्यिक विचार-धारा ने, जिसमे नीत्से-जैसे घोर व्यक्तिवादी की रचनाओ का प्रभाव भी सम्मिलित था, धीरे-धीरे समाज के संगठित अधिकार और शक्ति को छिन्न-भिन्न करना शुरू किया। शहरी संस्कृति समृद्ध हुई। बौद्धिकता भी प्रबल हुई। ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रत्येक प्रचलित संस्कार अथवा विश्वास की परीक्षा करके ग्रहण करने की प्रवृत्ति से ग्रस्त होता गया। पाप और पुण्य की परीक्षा भी की गई। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' ने समाज को मानव की मात्र पृष्ठ-भूमि का रूप प्रदान किया और प्रेम की, रोमान्स की भूमि पर एक साधु और एक सामन्त को कसौटी बनाकर पाप और पुण्य की व्यक्तिवादी सत्ता का उद्घाटन किया। व्यक्ति उभरा और अब उसके आचरणो की बुराई-भलाई का आदर्श उसकी अपनी मानसिक स्वीकार्यता ही बनी, और यहाँ के बाद उपन्यासों की दूसरी स्थिति आरम्भ हुई।

दूसरी स्थिति—समाज और मानव की प्रथम स्थिति में जो अवस्था थी उसमें धीरे-धीरे समाज महत्त्वहीन होता गया और मानव, व्यक्ति-मानव उभरता चला आया। यहाँ तक कि उसे अपने आचरणों को पाप और पुण्य की परम्परागत कसौटी पर कसने की भी आवश्यकता नहीं रह गई। अब मानव उभरा, उसका साहस बढ़ा और उसकी अपनी समस्या ही उसके समक्ष प्रस्तुत हुई। दूसरी स्थिति के उपन्यासकारो में हमें इसीलिए व्यक्तिवादी मानव की विविध रूप-रेखाएँ मिलती हैं। इस स्थिति मे हमें मुख्यतः तीन प्रवृत्तियों के दर्शन होते है। एक को हम मानव और उसकी परिस्थिति का शीर्षक दे सकते हैं।

मानव और उसकी परिस्थिति

इस मानव और उसकी परिस्थिति-सम्बन्धी उपन्यास के प्रधान लेखक जैनेन्द्र जी माने जा सकते हैं। प्रेमचन्द के जीवनवादी दृष्टिकोण और समग्र व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी दार्शनिकता के

विरुद्ध जैनेन्द्र ने क्रान्ति की ओर स्वयं प्रेमचन्द से आशीर्वाद प्राप्त किया। समाज और व्यक्ति के संघर्ष की झाँकियाँ प्रेमचन्द ने भी प्रस्तुत की; उनके पात्र समाज से प्रमाणित होने पर विद्रोही हुए, किन्तु वे उस समस्या को अपने बूते पर हल करने में सफल नहीं हुए। उनमें समाज की संस्कृति और शक्ति के प्रति एक अन्तरतम आस्था रही। उनके विद्रोह ने समस्या को हल करने का मार्ग सुधार के नाम से प्रस्तुत किया, समाज का ध्वंस उन्होने नहीं चाहा। उनकी यथा-सम्भव कल्पना भी नहीं की। किन्तु जब स्थिति बदल रही थी, सामाजिक परपीड़न के प्रति व्यक्ति का विद्रोह बढ रहा था, और यह विद्रोह शक्ति भी ग्रहण करता जा रहा था। इस समय का दार्शनिक दृष्टिकोण समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करने लगा था। राजनैतिक संघर्ष अधिकारो के प्रति जागृति उत्पन्न कर रहा था। बौद्धिकता श्रद्धा की मूल-भूमि पर ही कुठाराघात करके पुरातन सस्कृति के मूल भावो को छिन्न-भिन्न किये दे रही थी। मनुष्य तार्किक हो उठा था, और बुद्धि-संगत हेतुवाद से सिद्ध वस्तु ही उसे अब ग्राह्य हो सकती थी। भगवतीचरण वर्मा ने पाप और पुण्य की परीक्षा कराके केवल पाप और पुण्य की कसौटी मे अन्तर प्रस्तुत किया था। उसे सामाजिक से व्यक्तिगत बना दिया था। किन्तु अभिप्राय इसका यह था कि व्यक्तिगत दृष्टि से भी पाप और पुण्य-जैसी वस्तुओ की मान्यता हो सकती है। इस वस्तु को, जिसमें पुरातन नैतिकता का अवशेष साँस ले रहा था और जिसमे मानव की अपेक्षा उसके जीवन की ओर परि-णाम में समाज की पकड़ प्रस्तुत थी, बौद्धिक दृष्टि अब स्वीकार नही कर सकती थी। मेधावी जैनेन्द्र ने पहले-पहल मानव को इस अवशेष के आग्रह से मुक्त करके शुद्ध प्रकाशमय और यथार्थ मानव के रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की। युग यथार्थवाद की ओर यथार्थतः अग्रसर हुआ। प्रथम स्थिति मे पहली कड़ी से लेकर निचली कड़ी तक प्रेमचन्द से भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' तक समाज और मानव के पारस्परिक व्यवहार मे प्रत्येक के लिए एक संकोच तथा श्रद्धा की भावना विद्यमान थी। मनुष्य के बाह्य आन्तरिक रूपो में न तो समाज की भावना में, न मानव की निजी अभिव्यक्तियो मे वह साहसपूर्ण उत्सुकता थी जो दोनो मे से किसी को भी यथार्थ के नाम के योग्य बना सके। अतः मानव और समाज दोनो ही के संकोच के लिए कुछ सीमाएं थीं और इन्हीं सीमाओ को आदर्श का नाम दिया जाता था। इस नये यथार्थ के युग मे लेखक ने मानव को यथा-तथ्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की। मानव उभरा और अब तक समाज कहे जाने वाली सस्था दुर्बल-पड़ी और उसने अब मात्र परिस्थिति का रूप ग्रहण कर लिया, अब जीवन की समग्रता का प्रश्न नहीं था। मानव के स्वरूप को ही समझाने और उसी को उघारने का प्रश्न था। इस मानव के अध्ययन मे समाज केवल पृष्ठभूमि का कार्य करता था। तब जहाँ प्रथम स्थिति मे मनुष्य अपने स्वरूप को अपने समाज में विलीन करके उसके ही बल से व्यक्तित्व और चरित्रत्व प्राप्त करता था, अब वह इस विस्तृत भूमि से विलग होकर आत्मनिष्ठ होने लगा और व्यक्ति-जगत् की समस्त अभिव्यक्ति का मूल वह अपने अन्दर पाने लगा। प्रेमचन्द के युग ने प्रेम को उतना महत्त्व नही दिया था। जीवन में अपने कर्तव्य करने और अपने को जग के लिए उपयोगी और ग्राह्य बनाने के लिए एक मधुर सुषमा के तत्त्व के रूप में ग्रहण किया था। किन्तु इस युग ने इसी प्रेम को मानव की समस्त प्रेरणाओं का, समस्त समस्याओं का मूल स्वीकार किया। प्रथम स्थिति के युग में स्त्री और पुरुष अपने विविध सामाजिक सम्बन्धो के आवरणों में स्थित माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सास्कृतिक, नैतिक और धार्मिक सूत्रों से सुनिबद्ध थे। किन्तु अब

इन सामाजिक आच्छादनो को उतारकर वे नग्न हुए और स्त्री और पुरुष के रूप मे आकर खड़े हो गए। इसीलिए दूसरी स्थिति के उपन्यासकारो की समस्या की मुख्य धुरी मानव के स्त्री और पुरुष रूप मे यौन-सम्बन्धो के विविध रूप थे। इस युग मे हमे इसीलिए तीन प्रधान शाखाएं मिलती है। जैनेन्द्र ने मानव को उसकी परिस्थिति मे देखा, किन्तु मानव मन की अन्तरतम आस्था को इसने भी अक्षुण्ण रखा। सुनीता ने मन के सतीत्व के प्रकाश मे शरीर और आवरणो के सत के महत्त्व को ध्वस्त कर दिया; और सिद्ध किया कि जब तक मन का गढ सतीत्व भाव से दृढ़ है, शरीर को कोई भी कैसे ही ग्रहण करे क्या बनता-बिगड़ता है। इलाचन्द्र जोशी ने मानव के उस चेतना-मानस के अधिकार में प्रवेश करके उसकी छाया और प्रेतो के मनोविश्लेषण के द्वारा मानव-मन के गूढ निर्माण को प्रस्तुत किया और 'अज्ञेय' ने इस मात्र मानव की अपने ऐहिक विकास की पुरुष तत्त्व और स्त्रीत्व के सम्बन्ध की कहानी ही नहीं कही, परिस्थितियो के प्रति चल गूढ मन की क्रियाओ तथा प्रतिक्रियाओ का स्वरूप प्रत्येक सम्भावित अनुभूति के सम्बन्ध मे प्रस्तुत किया। इसमे वह आस्तिकता है जो नास्तिकता के भी दूसरे छोर को छू लेती है। प्रेमचन्द के उपन्यासो को स्त्री और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धो को बेधकर न तो नग्न व्यक्तियो को ही देखना पड़ा था, न व्यक्तियो के प्राकृतिक आवरण शरीर को, और न उसके चेतन मानस को विदीर्ण करके मन के भीतर के अन्धकार और वीभत्स को ही कुरेदकर बाहर लाना पड़ा था। किन्तु आज न तो प्रेमचन्द हमे सन्तुष्ट कर पाते, क्योकि मानव आज केवल सामाजिक प्राणी नही रह गया। समाज के धर्म की धुरी आज नष्ट हो चुकी है। प्रेमचन्द ने समाज को गिरने वाला समझा था, उसने अपने पात्रो को अपनी कल्पना से उसे सँभालने से और दृढ़ करने मे प्रवृत्त किया था और प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी थी। वे बड़े आस्थावान् व्यक्ति थे। किन्तु प्रेमचन्द का मान्य समाज सँभला नही। जिस व्यक्ति को उपन्यासकार ने समाज की वेदी पर बलिदान का बकरा बनाया उसका अन्त अत्यन्त दयनीय हुआ। जिन सामाजिक मान्यताओ के लिए वह संघर्ष करता रहा उन्ही ने घोर निर्ममता से उसका गला घोटा। वह भाई के लिए पचा, बेटे के लिए विसर्जित हुआ, बहुओ पर न्योछावर हुआ, कोई भी उसके बाँधने से नही बँधा। आर्थिक दारिद्र्य ने ही उसे रीढ़-हीन नही बनाया, मन मे सञ्चित कौटुम्बिक प्रेम का सम्बल भी उसके पास नहीं रह सका। वह प्रेम का उन्माद नहीं चाहता था, वह अपनो के स्नेह की स्निग्धता चाहता था। पर युग बदल चुका था। समाज के मूल स्तम्भ, ग्राम-शहर सभ्यता से परास्त हो चले थे।

मानव व्यक्तिवादी

तब जैनेन्द्र की लेखनी ने झुँझलाकर सुनीता को वस्त्र फेंककर एकदम नग्न खड़ा होने के लिए विवश कर दिया। समाज का भय जा चुका था; उसकी दीवारे गिर चुकी थीं; व्यक्ति व्यक्ति के सामने था, और वह उन्मादित हो चुका था, स्त्री के उस कवच को भी सहन नही कर पा रहा था जो समाज ने पत्नीत्व के रूप मे उसे दिया था। झुँझलाकर स्त्री ने अपने को सम्पूर्ण नग्न कर दिया। इस पहले धक्के ने पुरुष को स्तम्भित कर दिया। वह प्रेम की आध्यात्मिकता के अँधेरे मे शरीर को चुराना चाहता था। स्त्री की नग्नता के प्रकाश मे अपनी वासना मे ही अपने को कुत्सित नहीं देखना चाहता था। वह यह नही सुनना चाहता था कि सत्य ही वह शरीर के मोह मे ग्रस्त था। उसकी स्त्री-सम्बन्धी दिव्यता की घोषणा और महानता की उपासना का यथार्थ मर्म यही था कि वह कामोद्दीप्त था। पहली बार वह स्तम्भित हुआ, पर सँभला और अब तो वह

कुछ काल के लिए अपने मन के भीतरी अन्धकार मे बसने वाले विकारी प्रेतो को ही उधेड़-उधेड़-कर देखता रहा। उसे फ्रायड ने बतलाया भयभीत मत हो। यह न तो वीभत्स है और न अद्‌भुत। मानव-मात्र की यह कहानी है, यही मानव है। यहाँ इस अन्धकार मे दमित भावनाओ के क्रीड़ामय लोक मे ही मानव का वास्तविक स्वरूप है।

उसने इस सत्य को जैसे ही हृदयंगम किया, धीरे-धीरे उसकी लज्जा दूर हुई; वह आश्वस्त होकर 'व्यक्तिवादी' के सकोचशील खोल को उतारकर अहंवादी हुआ। उसका 'व्यक्तिवादी' निज-पीड़न, आत्म केन्द्रित मानसिक निगूढ़ता और कच्छपता समाप्त हो चली। उसके लिए अपना आपा, अपना 'अह' ही सब-कुछ हो गया। वह आत्म-स्थित हुआ—स्थित प्रज्ञ की भाँति नहीं, वह आत्म-स्थित हुआ 'हम चुनी दीगरे नेस्त' के भाव से। वह अपने जीवन के विकास के मर्म को स्वयं परीक्षा की दृष्टि से देखने लगा। ऐसे अहवादी स्तर पर 'शेखर : एक जीवनी' खड़ी हुई। इस आत्म-स्थित प्रज्ञावान् उपन्यासकार ने आत्मा के मिथ्या को उभारकर अहं के निर्माण और उसके स्वरूप के भौतिक सत्य का साक्षात्कार कराने की चेष्टा की। कुण्ठित मन की भव्य होने वाली प्रवृत्तियो का रहस्य उसने मनोविश्लेषणवादी विश्वासों के सहारे अनावृत कर दिया। उसने अहंवादी को राजनीति, समाज, कला, विद्या के क्षेत्रों मे जाने दिया; पर उसके अहं को कुण्ठित नहीं होने दिया। यह अहं और भी उग्र हुआ। वह अपने 'अहं' के बल पर अपने को भीम समझने लगा, उसके पग और भुजाएं विशाल हुई; उसका सिर आकाश में तारो से टकराने लगा। किन्तु इस 'अहं' के गौरव और महत्त्व के अनुकूल उसके पास कुछ नही था। यह व्यक्ति इस अहंवादी युग के राजनीतिक् अह से टकरा गया।

तीसरी स्थिति : राजनीतिक संघर्ष : अहंवादी व्यक्ति

इस टक्कर ने एक तीव्र प्रतिक्रिया प्रस्तुत की। यह 'अह', जो उच्च-भाव-मंडल से ग्रस्त हो चुका था, इस टकराहट से हीनता-भाव का शिकार हो गया। उसने अब अपने खोल से मुँह निकाला और अपने को अत्यन्त अपदार्थ समझने लगा। उसमे उसके अहं ने एक चीत्कार उत्पन्न की। विविध राजनीतिक सिद्धान्तों को लेकर उसने विवाद किया और यह देखना चाहा कि किससे उसके अहं का सामंजस्य बैठ सकता है। अधिकार के लिए उसका आग्रह बढ़ा, और अपनी स्वत्व-हीनता का ज्ञान। वह अब अपनी स्थिति को 'पलायन' और 'प्रगति' की तुला पर तौलने लगा।

स्वत्व-हीन मानव : विद्रोही

अधिकार के लिए हम प्रेमचन्द के सूरदास को भी संघर्ष मे प्रवृत्त होते देखते है। पर उस संघर्ष मे सूरदास का बल उसकी वह निस्वार्थ प्रवृत्ति है, जिसकी नैतिक शक्ति मे प्रभाव है। उसके इन अधिकारो का आधार नीति, न्याय और आत्मिक बल है। संघर्ष निश्चय ही राजनीतिक है। किन्तु केवल राजनीतिक अधिकारो के लिए नहीं किया गया। न कहीं राजनीतिक विवाद ही प्रस्तुत हुए है। प्रेमचन्द के संघर्ष का यही रूप सर्वत्र है। व्यक्ति ने समाज के अधिकारो और उसके उन्नयन के लिए अपना बलिदान दिया है।

अब वह स्थिति नहीं रही। अहंवादी व्यक्ति का समाज से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं रह जाता, वरन् वह अपने अहं के विश्लेषण से यह पाता है कि समाज ने ही उसे अत्यन्त दरिद्र, स्वत्वहीन, नपुसक और बन्दी बनाकर रखा है। यही भावना उसमे समाज के प्रति घोर घृणा-भाव

प्रेरित करती है; यही घृणा उसे विद्रोह के लिए। यों वह सहज ही विद्रोही हो जाता है। अहंवादी व्यक्तित्व के इस घृणा-भाव तथा विद्रोह मे मूल कारण कोई-न-कोई व्यक्तिगत आघात होता है। असफल प्रेम, व्यावसायिक असफलता, असफल महत्त्वाकाक्षा, उच्च-भाव-मण्डल अथवा हीन-भाव-मण्डल के परिणाम से किसी अपमान की वेदना। वह वैफल्य की वेदना मे उन्मत्त ध्वंस की ओर अग्रसर होता है। ध्वंस उसे स्वभावतः प्रिय हो जाता है। वह नास्तिक, निराश और क्रान्ति-विश्वासी अपनी प्रतिहिंसा मे मानव का, समस्त मानव का, संकल्प-बद्ध शत्रु हो जाता है, एक ऐसा क्रान्तिकारी, जो क्रान्ति मे क्रान्ति के लिए विश्वास करता है, नाश ही जिसे समस्त समस्याओ का हल विदित होता है। उसके इस प्रताड़ित अहं मे भीतर फ्रायड का काम-सिद्धान्त व्याप्त रहता है। मार्क्सवाद के दर्शन तथा गाधी जी के देश-प्रेम आदि से अनुप्राणित वह विविध राजनीतिक सिद्धान्तो पर गरमागरम बहस भी करता है, और कभी-कभी किसी उग्र आन्दोलन मे सम्मिलित दिखाई पड़ता है। पर है वह काम अथवा प्रेम के शहद मे लथ-पथ मक्खी, घोर यथार्थवादी—केवल परिस्थितियो और शरीर की रसायन मे विश्वास रखने वाला, आचार-सौन्दर्य के लिए केवल व्यक्तिगत रुचि या धारणा को ही मान्य मानने वाला। यह अहंवादी व्यक्ति समाज और राजतन्त्र का ही विरोधी नहीं हुआ, मानव-विरोधी भी हुआ और इसी ने मानव का मूल्य खो दिया। मानव कीट-पतंगो की कोटि मे पहुँच गए। जिन्हे जब-तब चाहे जैसे मसला और नष्ट किया जा सकता है।

यह उपन्यासकार इस अहंवाद को लेकर चला तो यह एक अद्भुत-सी बात लगी। लोगो ने उसे प्रश्न की दृष्टि से देखा।

मानव : ऐतिहासिक व्याख्या

तो अब इस अहंवादी ने मानव के इस अपनी ढाल तथा ढॉचे के अहंवादी रूप को इतिहास में से खोज-खोजकर खड़ा करने का ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण कार्य करना आरम्भ किया, और प्रश्नकर्ता की मौन पृच्छा का समाधान ही प्रस्तुत नहीं किया, प्रत्युत मानव के अहंवादी इन्द्रिय-रत शाश्वत स्वरूप का चित्र भी प्रस्तुत किया और जैसे बलपूर्वक कहा कि यही यथार्थ मनुष्य की प्रगति का यथार्थ है। वह वोल्गा तक गया, गंगा तो उसके घर ही थी। इतिहास के अंधकार मे से वेदो तक के अहंवादियो के स्तूप उसने खड़े किए, कुछ मुर्दों के टीलो (मोहेन जोदड़ो) की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक शोध के तन्तु मे से निर्जीव फूलो को उठाकर ऐसे महान् चरित्रो की कथाओ की सृष्टि मे भी प्रवृत्त हुआ, जिससे इतिहास की कुछ बाते चमकी, कुछ क्षुब्ध हुईं, पर 'मानव' निश्चय ही विचलित हुआ।

मानव : भूमि-पुत्र

और आज अन्त मे इस विचलित हुए मानव को अपनी भूमि का संबल ग्रहण करना पड़ रहा है। आज उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा की भॉति भूमि-पुत्रो को, पृथ्वी-पुत्रो को खड़ा कर रहा है। ये जिस मिट्टी के बने है उसी के जैसे हैं। इन भूमि-पुत्रो मे सामन्त भी है, समाजवादी मनोवृत्ति भी है, और अन्य विविध जन भी हैं, पर मानव के किसी उन्नयनपूर्ण कल्याण की विकासमय अग्रगामिता का भाव इनमे नहीं।

डॉक्टर अब्दुल अलीम

साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

कला और संस्कृति के बारे मे मार्क्सवाद की आम तौर पर बुनियादी स्थापना यह है कि भौतिक जीवन के उत्पादन की प्रणाली ही जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और दूसरी बौद्धिक प्रतिक्रियाओ का निर्धारण करती है। मार्क्स ने स्वयं हर प्रकार की चेतना का उत्पादन से सम्बन्ध बताते हुए एक अत्यन्त गम्भीर वक्तव्य दिया है :

> "मनुष्य सामाजिक उत्पादन की क्रिया में पडकर परस्पर ऐसे निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं जो अनिवार्य होते हैं, और जो उनकी इच्छा से इतर भी होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उनके उत्पादन की भौतिक शक्तियो के विकास की निश्चित मंजिलो के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों की समष्टि से समाज का आर्थिक ढांचा बनता है—वह वास्तविक आधार, जिस पर वैधानिक और राजनीतिक व्यवस्थाओ के ढाँचे खडे होते हैं, और जिनके अनुरूप ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप पैदा होते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की जो प्रणाली होती है, वही आम तौर पर सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का निर्धारण करती है। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नही करती बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है। समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ अपने विकास की खास मंजिल पर पहुंचकर उत्पादन के मौजूदा सम्बन्धों से संघर्ष करती हैं, या वैधानिक भाषा में इस चीज को यो कह सकते है—कि वह उन साम्पत्तिक सम्बन्धो के संघर्ष मे आती हैं, जिनके अन्तर्गत वह अब तक काम कर रही होती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियो के विकास-रूप न रहकर जब उनके बन्धन बन जाते हैं, उस समय सामाजिक क्रान्ति का एक युग शुरू होता है। आर्थिक आधार का परिवर्तन होते ही ऊपर का तमाम विशाल ढाँचा न्यूनाधिक मात्रा में तेजी से बदल जाता है। इन परिवर्तनों पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक परिवर्तन के बीच—जिसका निर्धारण प्रकृति-विज्ञान के प्रयोग की तरह निश्चयात्मक रूप से किया जा सकता है—और उन वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्य-तत्त्व सम्बन्धी अथवा दार्शनिक, संक्षेप में उन तमाम विचार-जगत्-सम्बन्धी रूपों के बीच भेद करना चाहिए, जिनके माध्यम से मनुष्य इस संघर्ष के बारे में सचेत होते हैं, और इसमें भाग लेते हैं। जिस तरह किसी व्यक्ति के बारे में हमारी सम्मति केवल इस बात पर ही आधारित नहीं होती कि वह अपने बारे में क्या सोचता है,

उसी प्रकार किसी ऐसे परिवर्तन-युग के बारे में हम उसकी अपनी चेतना के आधार पर ही निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत इस चेतना को भी हमें भौतिक जीवन और उत्पादन-सम्बन्धों के अन्तर्विरोधों को दृष्टि में रखकर समझना-समझाना चाहिए। कोई भी सामाजिक व्यवस्था उस समय तक नहीं मिट पाती, जब तक कि उसके अन्तर्गत उत्पादन की शक्तियों के लिए जितना स्थान है, उनका उतना विकास नहीं हो जाता। और नये उच्चतर उत्पादन-सम्बन्ध भी उस समय तक कभी पैदा नहीं होते जब तक कि उनके अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियाँ स्वयं पुराने सामाज के गर्भ में ही परिपक्व नहीं हो जातीं। इसलिए मनुष्य जाति अपने सामने हल करने के लिए उन्हीं समस्याओं और कार्यों को रखती है, जिनको वह हल कर सकती है। क्योंकि अगर इस तथ्य को और निकट से देखें तो हम पायेंगे कि यह समस्याएं और कार्य भी तभी पैदा होते हैं, जब उनको हल करने वाली आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ या तो पैदा हो चुकी होती हैं, या कम-से-कम उनके उत्पन्न होने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी होती है।"[1]

मार्क्स के इस वक्तव्य पर बहुत ध्यान से विचार करना चाहिए। क्योंकि, सच तो यह है कि यह बहुत जटिल वक्तव्य है। किसी भी दशा मे इसको अति सरल बनाकर नहीं समझना चाहिए। निश्चय ही मार्क्स का यह विश्वास था कि जीवन की भौतिक प्रणाली ही अन्ततः मनुष्य के जीवन का बौद्धिक निर्धारण करती है। परन्तु उन्होने कभी एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचा था कि इन दोनो का सम्बन्ध एकदम सीधा-सादा है, जिसे आसानी से देखा जा सकता है और जो यान्त्रिक रूप से विकसित होता है। कला की 'आर्थिक' व्याख्या से हर व्यक्ति को सावधान करना चाहिए। एंजिल्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की ऐसी कुत्सित व्याख्याओं के खिलाफ एक निश्चित चेतावनी दी थी :

"इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास का निर्णयकारी तत्त्व अन्ततः वास्तविक जीवन में उत्पादन और प्रत्युत्पादन है। मार्क्स ने या मैंने इससे अधिक का दावा कभी नहीं किया। इसलिए अगर कोई इसको तोड-मरोडकर यह कहता है कि आर्थिक तत्त्व ही एक-मात्र निर्णयकारी तत्त्व है तो वह इस वक्तव्य को अर्थ-हीन, अमूर्त्त और हास्यास्पद बना देता है। आर्थिक परिस्थिति तो आधार है, लेकिन ऊपरी ढाँचे के विभिन्न तत्त्व—वर्ग-संघर्ष के राजनीतिक रूप और उसके परिणाम, एक सफल युद्ध के बाद विजयी वर्ग द्वारा स्थापित विधान आदि—कानून के प्रकार—और फिर संघर्ष-रत मनुष्यो के मन में होने वाली इन वास्तविक संघर्षों की मानसिक प्रतिक्रियाएं तथा राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक विचार और मत-मतान्तरो की व्यवस्थाओं के रूप मे उनका विश्वास—ये सब भी ऐतिहासिक संघर्षों की धारा पर प्रभाव डालते है, और अनेक बार उन संघर्षों के स्वरूप-निर्णय करने मे प्रमुख भाग लेते हैं। इन सभी तत्त्वों मे—अन्तः प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं, जिनमे से असंख्य घटनाओं के जमघट के बीच अर्थात् उन वस्तुओं और घटनाओं के बीच, जिनका आन्तरिक सम्बन्ध या तो इतना दूर का है, या

1. A contribution to the critique of political economy—selected works vol. I pp. 356-57.

जिसको साबित करना इतना असम्भव है कि हम उसे अनुपस्थित मान लेते हैं और जिसकी हम उपेक्षा कर सकते है, आर्थिक प्रगति-सूत्र अपने को अन्ततः अनिवार्य सिद्ध कर देता है।"[१]

इससे अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मार्क्सवाद यह दावा नहीं करता कि कला की कृतियॉ 'केवल' आर्थिक आवश्यकताओ और प्रतिक्रियाओ को ही प्रतिबिम्बित करती हैं। 'अस्तित्व चेतना का निर्धारण करता है'—भूत पदार्थ और आत्मा के अन्तिम सम्बन्ध की यही मार्क्सवादी व्याख्या है। कलाकार का अपना दृष्टिकोण वास्तव मे चाहे यह हो या न हो, लेकिन वस्तुतः उसके रचनात्मक कार्य का यही आधार होता है। सभी प्रकार की कल्पना-प्रसूत रचनाएं उस वास्तविक जगत् का प्रतिबिम्ब होती है, जिसमे उनका सर्जक रहता है। उस जगत् से रचनाकार का जो सम्पर्क होता है, और इस जगत् मे उसे जो-कुछ प्राप्त होता है; उसके प्रति उसके प्रेम या घृणा के परिणामस्वरूप ही वह रचना पैदा होती है। रैल्फफॉक्स के शब्दो मे :

"प्रकाश-रेखाएं रंग-रूप और आकृतियाँ वायु के श्वास और जीवन की गन्ध, पशु-जीवन का शारीरिक सौन्दर्य या शारीरिक असुन्दरता तथा साथ ही मनुष्यों के जीवन, उनके विचार वास्तविक स्त्री पुरुषों, जिनमे रचयिता भी शामिल है, के स्वप्न—कला के यह ही—उपकरण है। मिल्टन का आग्रह था कि कविता मे तीन चीज़ें होनी चाहिएं; अर्थात् वह 'सरल, भावपूर्ण और रागपूर्ण हो' (प्रसाद, माधुर्य और ओज से युक्त हो) जो कला भावपूर्ण (इन्द्रियजन्य) नहीं होती, जिसका वास्तविक जगत् के अर्थात् इन्द्रियगम्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्ध नहीं है, वह कला तो होती ही नहीं, कला की छाया तक भी नहीं होती। वास्तविकता पर आवश्यक रूप से अपना अधिकार प्राप्त करके उसकी पुनःसृष्टि के लिए रचनाकार और बाह्य वास्तविकता के बीच जो संघर्ष होता है, वह रचनात्मक प्रक्रिया का सार होता है।"[२]

उत्पादन पर कला किस तरह निर्भर करती है, इसकी स्पष्ट मिसाल हमें जितनी प्रागैतिहासिक काल मे मिलती है उतनी और कही नहीं। सामाजिक विकास के इस युग मे मनुष्य की सबसे बड़ी लगन अपनी मात्र अस्तित्व-रक्षा के लिए उत्पादन की क्रिया मे पूरी तरह लगे रहना था। उस समय मनुष्य के साथ और मनुष्य की प्रकृति के साथ सम्बन्ध अत्यन्त सरल, अनावृत और सीधे थे। श्रम का विभाजन एक बहुत नीची सतह पर था—श्रम के कार्य अधिकतर स्त्री और पुरुष के आधार पर बॅटे हुए थे। उत्पादन के साधनो के रूप में साधारण औजार थे। इसलिए उस समाज मे मनुष्य के श्रम का एक मौलिक हिस्सा होता था। कला के जन्म मे श्रम के इस आदिरूप का जो महत्त्व है, उसे बढ़ा-चढाकर नहीं कहा जा सकता। पिछली शताब्दी के अन्त मे एक जर्मन अर्थ-शास्त्री काल बुशर ने एक यह स्थापना की कि लय, गीत और कविता का जन्म आदिमानव की श्रम-क्रियाओ से हुआ है। उसने व्याख्या करके समझाया कि श्रम के दौरान मे यदि लय-युक्त ढग से शरीर के अगो का परिचालन किया जाय तो इससे न केवल पटुता बढती थी, बल्कि थकान भी कम होती थी। इतना ही नहीं, जो लोग समूह बनाकर अपने हाथो से श्रम करते थे, उन्हें भी सुचारु रूप से काम करने के लिए अपनी गतियो को लययुक्त रूप मे

१. Marx—Engels, Selected Correspondence, p 475, N.Y 1942
२. Ralph Fox—Novel and the People, p 28.

संगठित करना पड़ता था। लयपूर्ण कार्य मे जब मास-पेशियों का तनाव अपनी चरम सीमा पर होता है, उस समय हुंकार या दूसरे स्वर निकालने पड़ते थे। इन स्वरों को आदिम लोगों ने शब्दों मे पिरो दिया। फिर उन्होंने इन स्वरों के बीच की जगहों को और दूसरे शब्दों से भर दिया। और इस प्रकार कविता और गीत का जन्म हुआ। बुशर ने यह भी सुझाया कि प्रतिध्वनि पैदा करने वाले पदार्थों पर औजारों की चोट मारने से जो ध्वनियाँ पैदा होती थीं, मनुष्य ने अपनी आवाज से उनका भी अनुकरण किया। अपने दावे को सिद्ध करने के लिए बुशर ने आदिम लोगों के कार्य सम्बन्धी बहुत-से गीत एकत्रित किए, उसकी धारणा थी कि गीत और कविता के रूप और वस्तु-सम्बन्धी तत्त्व भी कार्य की लयों में से ही जन्मे हैं।

जॉर्ज थॉमसन ने नृत्य-संगीत तथा कविता के जन्म और विकास का वर्णन इन शब्दों मे किया है :

> "नृत्य, संगीत और काव्य, ये तीनों कलाएं एक रूप में ही पैदा हुई थीं। सामूहिक श्रम मे लगे हुए मनुष्य-शरीरों के लययुक्त सञ्चालन मे ही उनका मूल स्रोत है। इस लययुक्त शरीर-सञ्चालन के दो भाग थे—शारीरिक और मौखिक। पहला नृत्य का बीज बना, दूसरा भाषा का। लय पर ताल देने के लिए पैदा की गई अस्पष्ट आवाज़ों से शुरू होकर भाषा कालान्तर में काव्यमय बोली और साधारण बोली के रूप में बँट गई। आवाज़ के बिना केवल औज़ारों के घात से पुनः उत्पन्न होकर यह अस्पष्ट ध्वनियाँ कालान्तर मे वाद्य-यन्त्रों के संगीत का मूल स्वर बनीं।
>
> "कविता की ओर सही रूप में पहला कदम तो उस समय उठाया गया, जब कि नृत्य हटा दिया गया। इससे हमें गीत मिला। गीत में कविता संगीत की विषय-वस्तु के रूप में होती है, और संगीत कविता के रूपाकार में। फिर ये दोनो भी एक-दूसरे से परे हटते गए। कविता का रूपाकार उसका लययुक्त ढाँचा होता है, जिसे कि उसने गीत से विरासत मे पाया है, लेकिन इस लययुक्त ढाँचे को सरल बना लिया गया है, ताकि वह विचार-वस्तु पर अपनी शक्ति केन्द्रित कर सके। काव्य में एक कहानी कही जाती है, जिसमें उसके लययुक्त रूपाकार से स्वतन्त्र एक आन्तरिक तारतम्य और सम्बन्ध-सूत्र होता है। इसलिए बाद मे काव्य से गद्य-रोमांस या उपन्यास का जन्म हुआ। जिसमें काव्यमयी शैली का स्थान साधारण बोल-चाल की भाषा ले लेती है और जिसका लययुक्त बाह्य ढाँचा बिलकुल ही छोड़ दिया जाता है और केवल इस रूप में ही बाकी रह जाता है कि कहानी एक सन्तुलित और सामञ्जस्यपूर्ण रूपाकार में ढाली जाती है।"[1]

कला का जन्म जिस प्रकार हुआ, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कला अपने अन्दर और बाहर की शक्तियों की जटिल क्रियाओं-प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती है और इस समस्त संश्लिष्ट क्रिया का स्रोत उत्पादन है। साथ ही यह सम्बन्ध और भी जटिल होते जाते हैं, जैसे-जैसे समाज में श्रम विभाजन और उच्चतर आधार पर होता जाता है। इस बात के बावजूद कि उत्पादन कला की एक शर्त है, कला का धरातल सदा अनिवार्य रूप से आर्थिक क्षेत्र के उत्पादन के विकास की

---

1. Marxism and Poetry, pp. 19-20

सीमा के बराबर ही नही रहता। क्योकि ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि अत्यन्त निम्न आर्थिक स्तर की समाज-व्यवस्थाओ मे महान् कृतियो की सृष्टि हुई थी, जो कि पूँजीवादी युग के सर्वोन्नत काल की कला की तुलना मे रखी जा सकती है। मार्क्स ने स्वयं उस पर प्रकाश डाला था :

> "यह सभी लोग जानते हैं कि कला के विकास के कुछ सर्वोच्च युग समाज के साधारण विकास की मंजिल से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते, और न उसके संगठन के ढाँचे और भौतिक आधार से ही। आधुनिक राष्ट्रो की तुलना में ग्रीक लोगो की मिसाल को देखो या शेक्सपियर को ही देखो।"[1]

इस वैषम्य के कारण बहुत पेचीदा हैं। लेकिन उत्पादन की प्रणाली से उसके सूत्र खोज-कर निकाले जा सकते है। हर युग की एक विशिष्ट चारित्रिकता होती है, जिसका निर्धारण उस युग के उत्पादन की स्थिति करती है। कला के निर्माण मे अनेक तत्त्व एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और उनको अन्तिम रूप से एक-दूसरे से सुलझाकर अलग करना यदि असम्भव नहीं है, तो कठिन अवश्य है। लेकिन यह समझने के लिए कि ये विभिन्न तत्त्व किस तरह कार्य करते हैं, उनको इस तरह से एक-एक करके जॉचना जरूरी है कि अपने संदर्भ से हटाने पर उनमे से किसी को, जहॉ तक सम्भव हो, विकृत न होने दिया जाय।

इस स्थान पर हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—प्राचीन युगों के साहित्य और कला के बारे मे मार्क्सवाद का दृष्टिकोण क्या है। हंगेरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी जॉर्ज लुकोक्स का कहना है :

> "जो लोग मार्क्सवाद को या तो कतई नहीं जानते या बहुत सतही तौर पर अथवा सुन-सुनाकर जानते हैं, उन्हे यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि मनुष्य की प्राचीन विरासत के प्रति इस सिद्धान्त के महान् प्रतिनिधियो के हृदय में कितना गहरा आदर का भाव रहा है, और वह किस प्रकार बार-बार इस प्राचीन विरासत का हर मौके पर हवाला देते हैं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि महान् मार्क्सवादी विचारक हमारी प्राचीन निधियों के, चाहे वे कला-क्षेत्र की हो या किसी दूसरे क्षेत्र की, लासानी संरक्षक थे। किन्तु ये महान् विचारक इस प्राचीन विरासत को इस रूप में नहीं देखते थे कि पुनः प्राचीन की ओर लौटना है, क्योंकि उनके इतिहास-दर्शन का ही यह अनिवार्य परिणाम था कि वे यह मानें कि जो बीत चुका है वह फिर कभी वापस नहीं आ सकता और उसमें नया जीवन नहीं डाला जा सकता। कला-क्षेत्र में प्राचीन विरासत के प्रति आदर का अर्थ यह है कि महान् मार्क्सवादी विचारक इतिहास के सच्चे राज-मार्ग की तलाश में थे। उसके विकास की सही दिशाओ, उसकी सही धारा के सच्चे ऐतिहासिक मोडो और उनके नियमों की तलाश में थे, जिनको वे जान गए थे। और चूँकि वे उन नियमों को जानते हैं, इसलिए ग्राफ-चित्र में हर उठान को देखकर वे उसकी ओर सम्पाती-रेखा की तरह नहीं दौड पडते थे। जैसा कि आधुनिक विचारक अक्सर करते हैं। क्योकि वे सिद्धान्त-रूप में इस विचार को गलत सिद्ध कर चुके हैं, कि विकास की कोई अपरिवर्तनशील साधारण रेखा होती है।

1. Critique of Political Economy, p. 309.

"इतिहास का मार्क्सवादी दर्शन मनुष्य की एक सम्पूर्ण इकाई में व्याख्या करता है और मानव-विकास के इतिहास को भी सम्पूर्ण रूप में ही अपने विचार का विषय बनाता है......वह समस्त प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तभूत नियमों का उद्घाटन करने की कोशिश करता है। इसलिए श्रमजीवी मानववाद का उद्देश्य पूर्ण मानव-व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करना है। और एक वर्ग समाज की जिन शृङ्खलाओं ने इस व्यक्तित्व को विकृत करके उसका अंगभंग किया है, उनसे उसे मुक्त करना है। यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक लक्ष्य ही उस कसौटी का निर्माण करते हैं, जिसे कि मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र, एक ओर तो प्राचीन महाकृतियों से हमारा सम्बन्ध जोडता है, और साथ ही दूसरी ओर हमारे आपके समय के साहित्य-संघर्ष के बीच में से नई महाकृतियों को ढूँढ निकालता है। प्राचीन यूनानी कलाकार और कवि दांते, शेक्सपीयर, गेटे, बालजक, टॉलस्टॉय—ये सब मानव-विकास के महान् युगों के समुचित चित्र हमें देते हैं। और साथ ही अभंग मानव व्यक्तित्व की पुनः स्थापना के विचार-युद्ध मे यह हमारे लिए आलोक-स्तम्भ का भी काम करते हैं।"[1]

यहाँ पर उस तीखी और तेज बहस का हवाला देना लाभकर होगा, जो सन् तीस की दशाब्दी मे सोवियत यूनियन के साहित्यालोचको के बीच छिड़ी थी। इस बहस का मकसद कला की प्रकृति और मूल्याकन की कसौटी-जैसे बुनियादी सवालो को उठाना था। साहित्य क्या है? क्या वह वास्तविकता का प्रतिबिम्ब होता है? क्या वे कलाकार को चतुर्दिक् से घेरने वाले बाह्य गत्, जउसके वर्ग, उसके सामाजिक परिवेश का चित्र है या केवल 'वर्ग-चेतना' का कल्पनाजन्य रूप है, एक विशेष प्रकार की वर्ग-चेतना है, जो शब्द-चित्रो द्वारा अपने को 'अभिव्यक्त' करती है। साहित्य की विषय-वस्तु बाह्य-जगत् से ली जाती है या किसी विशेष वर्ग को सामाजिक चेतना की गहराई से?

सोवियत यूनियन मे इस समय जो दृष्टिकोण एक प्रकार से सर्वमान्य हो गया है, उसके सबसे विख्यात प्रतिपादक माइकेल लीफशिन्स हैं। 'लेनिनवादी आलोचना' शीर्षक अपने प्रसिद्ध लेख में लीफ़शिन्स ने अपने विरोधियो के मतो पर टिप्पणी करते हुए और प्लैखानोफ की कृतियो से उधार लिया गया सिद्ध करते हुए कहा :

"क्या एक अभिजात वर्गीय कलाकार स्वयं अपने देश की जनता के आन्दोलन को प्रतिबिम्बित कर सकता है? प्लैखानोफ के दृष्टिकोण से इस प्रकार का विचार ही मार्क्सवाद को नकारना है।.. प्लैखानोफ की दृष्टि मे सामाजिक जीवन पर साहित्य की निर्भरता का अर्थ अपने वातावरण पर कलाकार का मानसिक रूप से निर्भर होने के बराबर था। इस क्षेत्र में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्लैखानोफ ने इतने एकागी ढंग से विकास किया था कि उसने इस बुनियादी ऐतिहासिक तथ्य को पूरी तरह से धुँधला दिया कि कला और साहित्य बाह्य वास्तविकता के प्रतिबिम्ब होते हैं, भविष्य के सर्वतोमुखी क्रिया-कलाप का दर्पण

1. Studies in European realism, pp 4-5.

होते हैं। लेकिन लेनिन ने टॉल्स्टॉय की रचनात्मक कृतियों का विवेचन करते समय ठीक इसी तथ्य को आधार बनाया था।

"प्लेखानोफ का 'कला का समाज शास्त्र' इतना एकांगी था कि उसने आलोचना और साहित्य के इतिहास पर अत्यन्त दूषित प्रभाव डाला है। प्लैखानोफ ने वे बुनियादें डाली थी जिन पर हमारे कुत्सित समाज-शास्त्रियो ने अपनी योजनाओं के भवन बनाए हैं। उन्होने एक समाज-शास्त्री सिद्धान्त चालू कर रखा है, जिसका मतलब है कि प्रत्येक कलाकार केवल उन्हीं बुनियादी मनोगत अनुभवों को संगठित कर देता है, जिनको उसका वातावरण उसके पालन-पोषण की परिस्थितियाँ और अपने सामाजिक वर्ग या समूह के हित उसके मन पर अंकित कर देते है। ये अनुभव बिलकुल स्वयंभूत होतें हैं, अपने-आप चाहे-अनचाहे पैदा होते हैं, जिस तरह कि अँगुली कट जाने पर पीडा का अनुभव होता है। ऐसे वर्ग का अपना आध्यात्मिक जीवन बिलकुल स्वतन्त्र होता है। वह दुखी होता है, प्रसन्न होता है या अपने स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित होता है, और आम तौर पर अनेक प्रकार की मनोदशाओं का शिकार होता है। कला तो केवल अपने वर्ग की इन मनोदशाओ को उन विशिष्ट प्रकार के कोषो मे एकत्रित कर लेती है, जिन्हे हम कला-कृतियों के नाम से पुकारते हैं। इस अर्थ में प्रत्येक कलाकार 'गैर जिम्मेदार' होता है। आप न तो उसे समझा-बुझाकर मनवा सकते हैं, न अपने विचार-कोण पर चलने से रोक सकते हैं। और सच तो यह है कि उसकी प्रशंसा करना या उसकी बुराई करना भी निरर्थक है। वह अपने वातावरण की सच्ची मनोवैज्ञानिक पैदावार है। अन्ततः कोई भी कलाकार केवल अपने आत्म, अपने वर्ग के जीवन, अपने समूह, स्वयं अपने परिवेश और अपने घूरे को व्यक्त कर सकता है। किसी कलाकार का जितना ही अधिक उसके अपने घूरे से सम्बन्ध जोड़कर देखेंगे, उतना ही 'अधिक तथ्यपूर्ण' और 'अधिक वैज्ञानिक' हमारा विश्लेषण होगा। इस प्रकार या बहुत-कुछ इस तरह प्लेखानोफ से भी कहीं अधिक प्रसंगगत ढंग से 'समाज-शास्त्र' के असंख्य प्रतिनिधि तर्क पेश करते हैं।

"ये लोग इस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक वृत्ति को एक तार की गुप्त भाषा मे बदल देते हैं, और कला के समूचे इतिहास को ऐसी पहेलियों और प्रतीकात्मक चिह्नो का संग्रह बना देते हैं, जिनके पीछे कतिपय वर्ग-अर्थ छिपे हैं। हमारा काम बस इतना है कि इन गूढ़ाक्षरो के 'सामाजिक सारूप्यों' को निर्धारित करने के लिए उनके अर्थों का स्पष्टीकरण करें। इसीलिए कुत्सित समाज-शास्त्रियों के मन मे यह सनक सवार रहती है कि वह किस तरह लेखक को ठीक उस समय रँगे हाथ पकड़ लें जिस समय वह अकस्मात् किसी कारण अपनी वर्ग-चेतना की मूल प्रवृत्ति को वहीं जाहिर कर दे। उदाहरण के लिए कहीं शेक्सपीयर की जूलियट चीत्कार करके कहती है, 'ओह! तोड दे। मेरा हृदय दरिद्र निपट निर्धन, तोड दे इसे फ़ौरन!' तो हमारा चतुर समाज-शास्त्री उस शोकपूर्ण आवेदन पर बिना नागा झपट पटेगा और इसके आधार पर इस महान् नाटककार को लन्दन के व्यापारियों, व्यापार में

लगे नवाबों, जागीरदारों और पूँजीपति बने लोगों के हित के साथ बाबस्ता कर देगा।

"लेनिनवादी आलोचना का ऐसे क्षुद्र छल-छद्मों से कोई साम्य नहीं है। व्यापक रूप से प्रचलित इस कुत्सित समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करने वाले लेनिन के सिद्धान्त को हटा-कर उसके स्थान पर वर्ग-प्रतीकवाद को जगह देता है। और इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर पहुंचकर वह मार्क्सवाद से अपना नाता तोड़ लेता है।"

लीफशित्स अपनी स्थिति को और स्पष्ट करके इस प्रकार समझाता है :

"हमारा यह गहरा विश्वास है कि इतिहास का विज्ञान हमें प्राचीन की खोज में चाहे जितनी दूर तक ले जाय, लेकिन एक मार्क्सवादी और साधारण समाज-शास्त्री के बीच का अन्तर उतना ही बना रहता है। और इस अन्तर को जांचने की कसौटी भी वैसी ही बनी रहती है। मजदूर-वर्ग की तानाशाही के लिए जनता के दीर्घकालीन संघर्षों ने मार्ग प्रशस्त किया था—ऐसे संघर्षों ने, जिनका जन्म सामाजिक विषमता की कोख में हुआ, और जो हर प्रकार के वर्ग-संघर्ष की मूल-वस्तु है। एक अमार्क्सवादी समाज-शास्त्री के विपरीत एक मार्क्सवादी का लक्ष्य यह होता है कि वह विश्व-संस्कृति के समूचे इतिहास के दौरान से श्रमजीवी क्रान्ति और समाजवादी विचार-धारा की ओर प्रगति करते आने वाले जन-आन्दोलन के विकास की खोज करे कि वह प्रत्येक युग के उन सामाजिक विचार के समूचे प्रगतिशील तत्त्वों को खोज निकाले, जो दबे-पिसे वर्गों की जीवन-परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करते हैं; कि वे किसी एक काल के उन तमाम अंगों को, जो संस्कृति के प्रगतिशील और जनवादी तत्त्वों से मिलकर बने हैं, उन तत्त्वों से अलग करने का भी, जो प्रतिक्रियावादी है, और जिनमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का समर्थन है। वर्ग की कोई दूसरी व्याख्या, जो इतिहास की इस मूल वस्तु से हमें अलग करती है, हमें मार्क्सवाद से दूर हटा ले जाती है।"

कला-दर्शन के क्षेत्र मे कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के इर्द-गिर्द चलने वाली यही बहस उस दूसरी बहस का ही एक अंग थी, जो दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र मे यान्त्रिक भौतिकवाद को लेकर चलाई गई थी। वस्तुतः कला और कलाकार के सम्बन्ध मे एक मतवादी दृष्टिकोण रखने वाली और वर्ग-संघर्ष की अत्यन्त संकीर्ण व्याख्या पेश करने वाली इस कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की स्थिति भौतिकवाद के सम्बन्ध मे यान्त्रिक भौतिकवादियो द्वारा प्रतिपादित लोक-हीन तथा संकीर्ण दृष्टिकोण की ही सजातीय लगती है। यह बिलकुल निश्चित है कि प्राचीन युगो की महान् कलाकृतियो के छिद्रान्वेषी अथवा तिरस्कारपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति रत्ती-भर भी सहानुभूति न थी। इस सम्बन्ध मे बातचीत करते हुए लेनिन ने क्लेराजेटकिन से कहा :

"हमें चाहिए कि जो सुन्दर है, उसको सुरक्षित रखें। उसे एक मिसाल के रूप में स्वीकार करें। और चाहे पुराना ही क्यों न हो, लेकिन उसे पकड़कर रखें। भावी विकास के लिए आरम्भ-बिन्दु बनाने से हम वास्तविक सौन्दर्य का तिरस्कार क्या सिर्फ इसलिए कर दें कि वह पुराना है? नवीन को ऐसा भगवान् मानकर, जिसके

आदेशो का पालन करना ही है, हम क्यों चलें, क्या सिर्फ इसलिए कि वह नवीन है ? यह बेवकूफी है, बेवकूफ़ी है ।"[1]

इसी तरह 'श्रमिक संस्कृति' के बारे मे लेनिन ने एक और महत्त्वपूर्ण बात कही है :

"जब हम 'श्रमिक-संस्कृति' के बारे में बात करें तो हमें ये चीज़ें ध्यान में रखनी चाहिएं। जब तक हम इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं समझ लेते कि मनुष्य-जाति के समग्र विकास-क्रम के द्वारा निर्मित संस्कृति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके ही, और इस संस्कृति का फिर से इस्तैमाल करके ही 'श्रमिक-संस्कृति' का निर्माण सम्भव हो सकेगा। जब तक यह बात नहीं समझ ली जाती, तब तक हम अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकते। 'श्रमिक-संस्कृति' ऐसी चीज़ नहीं है, जो शून्य मे से उछलकर पैदा हो जायगी, न वह ऐसे लोगों की ईजाद है, जो अपने को 'श्रमिक-संस्कृति' का विशेषज्ञ कहते हैं। यह कोरी बकवास है। मनुष्य-जाति ने पूंजीवादी सामन्ती समाज और नौकरशाही समाज का भार वहन करके ज्ञान की जो राशि लगाई है, 'श्रमिक-संस्कृति' उसके स्वाभाविक विकास का परिणाम ही होगी। ये तमाम मार्ग और पथ 'श्रमिक-संस्कृति' की ओर बढ़ते जा रहे हैं,—उसी तरह जिस तरह मार्क्स द्वारा फिर से व्याख्या किये गए राजनीतिक अर्थशास्त्र ने हमें यह दिखा दिया कि कौन-सा मानव-समाज उस तक पहुँचेगा, और जिसने हमें वर्ग-युद्ध से लेकर श्रमिक-क्रान्ति तक के प्रारम्भ तक का मार्ग दिखाया।"[2]

मूल्यांकन की विधि के लिए मार्क्सवादियो को चाहिए कि वे टॉल्स्टॉय के बारे मे लिखे लेनिन के निबन्धो को अनुकरणीय उदाहरण समझें। सोवियत यूनियन के अनेक संकीर्ण दृष्टिकोण रखने वाले मार्क्सवादी आलोचको ने टॉल्स्टॉय पर लिखते समय उसकी वर्ग-स्थिति और वर्ग-चेतना को आरम्भ-बिन्दु मानकर लिखा। इसलिए उनके तर्क यह सिद्ध करने के लिए इस्तैमाल होते रहे कि चूँकि टॉल्स्टॉय एक अभिजात कुल का था, और केवल इसीलिए किसानो को सही मामले मे कभी समझ ही नहीं सकता था, अतः उसने किसानो और किसानों की समस्याओ का जो चित्रण किया है, उसका महान् कलात्मक मूल्य हो ही नहीं सकता। किन्तु लेनिन का दृष्टिकोण इससे भिन्न था। उन्होंने लिखा :

"टॉल्स्टॉय की कृतियों में जन-आन्दोलन की मज़बूती और उसकी कमज़ोरी, उसकी शक्ति और उसकी संकीर्णता व्यक्त हुई है। राज्य और सरकारी गिरजाघर के खिलाफ उसकी आक्रोशपूर्ण और आवेगमय तथा अक्सर तीखे निर्मम प्रतिवाद के अन्दर एक आदिम कृषक-जनवाद की भावना की तर्जुमानी हुई है, जिसमें सदियों की दासता नौकरशाही शासन, लूट खसोट, धार्मिक रूढ़िवाद, झूठ तथा धोखा-धड़ी के विरुद्ध क्रोध और नफरत के अम्बार जमा हो गए थे। उसने जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार के विरुद्ध जो असमझौतावादी आवाज उठाई, वह एक ऐसे ऐतिहासिक समय पर किसान-जनता की मनोदशा को प्रतिबिम्बित करती थी, जब कि ज़मीन

1. Clara Zetkin : Reminiscences of Lenin, P 12, N Y. 1934.
2 Selected Works Vol. IX pp 470, 71 (Moscow)

की मिल्कियत का मध्ययुगीन रूप और बाद में बड़े-बड़े ज़मीदारों और सरकार द्वारा छोटे-छोटे जमीन के टुकड़ो को बेचने की क्रिया देश के भावी विकास के मार्ग में एक असह्य बाधा बनकर खड़ी हो गई थी। और जब कि जमीन की मिल्कियत की यह पुरानी व्यवस्था अनिवार्य रूप से मिटने लगी थी, पूँजीवाद के विरुद्ध उसने हार्दिक क्रोध और गहरी भावना से भरी हुई जो निन्दा लगातार की, वह एक-एक पितृ-सत्ताक किसान के उस भय और आक्रोश को व्यक्त करती है, जो एक नए अनजाने अदृश्य शत्रु को अपनी ओर आगे बढ़ते हुए आते देखकर पैदा होता है। यह शत्रु, जो निःसन्देह नगर या बाहरी देशों की ओर से बढ़ता आ रहा था, और अपने पीछे ग्राम्य जीवन की 'बुनियादों' को नष्ट करता तथा अपने साथ अपार विध्वंस, गरीबी, अकाल जहालत, वेश्या-वृत्ति, आतशक-जैसी 'पूँजी के प्रारम्भिक एकत्रीकरण युग' की समस्त आधि-व्याधियों को साथ लाकर रूस की भूमि पर लूट-खसोट की अति-आधुनिक विधियों का सैकड़े गुने रूप में बढ़ा-चढ़ाकर प्रयोग कर रहा था, जिनका मिस्टर कूवन अनुमान भी नही कर सकते थे।"

लेनिन इस बात से भली भाँति परिचित थे कि एक सामाजिक दार्शनिक के रूप मे टॉल्स्टॉय ने मार्क्सवादी विचार-धारा को अस्वीकृत कर दिया था, किन्तु फिर भी एक साहित्यिक कलाकार के रूप मे टॉल्स्टॉय ने एक महान् प्रतिभा की सहज ईमानदारी के साथ उन समस्त सामाजिक शक्तियों और संघर्षों का चित्रण किया था, जो एक क्रान्तिकारी संकट और उसके बाद सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर बढ़ रही थीं कि जिनकी पेशीनगोई मार्क्स ने की थी। लेनिन की दृष्टि मे टॉल्स्टॉय की कला ने इसी अर्थ मे सामाजिक वास्तव को सही-सही प्रतिबिम्बित किया है, जब कि उसके सचेत रूप मे स्वीकृत जीवन-दर्शन ने उस सामाजिक वास्तव की गलत व्याख्या की है। लेनिन का विचार था कि इस दृष्टिकोण से हम टॉल्स्टॉय के अपने अन्तर्विरोधियो को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं :

> "टॉल्स्टॉय की कृतियों, उनके विचारों और टॉल्स्टॉय के अनुगामियो के मतों में जो अन्तर्विरोध है, वह वास्तव में उल्लेखनीय है। एक ओर तो एक महान् प्रतिभा का कलाकार है, जो केवल रूसी जीवन के अनुपम चित्र ही नही बनाता, बल्कि जो विश्व-साहित्य को प्रथम कोटि की रचनाओ से समृद्ध करता है। दूसरी ओर ईसा मसीह के नाम पर एक शहीद का ताज पहने हुए एक बडा जमींदार है। एक ओर तो सामाजिक असत्यों और आडम्बरो के विरुद्ध सीधा-सादा ईमानदार और असाधारण रूप से ताकतवर प्रतिवाद का स्वर है, दूसरी ओर एक 'टॉल्स्टॉयवादी' है। अर्थात् रूसी बुद्धिजीवी के रूप में विलाप करने वाला है, जो सार्वजनिक रूप से अपनी छाती पीटकर हल्ला मचाता है : 'मै बुरा हूँ, मै पतित हूँ, लेकिन मैं नैतिक पूर्णता के लिए कोशिश कर रहा हूँ; अब मैं मांस नही खाता और सिर्फ़ चावल पर ही गुज़र करता हूँ।' एक ओर पूँजीवादी शोषण की निर्मम आलोचना है, सरकारी हिंसा और न्याय तथा शासन की शक्तियों का भण्डाफोड़ है, और धन-राशि के जमाने तथा सभ्यता की क़ामयाबियों व श्रमजीवी जनता में ग़रीबी के प्रसार उसके असभ्यीकरण और यन्त्रणाओं के बीच पैदा होने वाली गति की गहरा-

इयों का उद्घाटन है। दूसरी ओर एक निर्बल मस्तिष्क से पाप का मुकाबला शक्ति से न करने का उपदेश ...। लेकिन टॉल्स्टॉय के विचारो और उपदेशो के अन्तर्विरोध आकस्मिक नही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तीस-पैंतीस वर्षों मे रूसी जीवन के अन्दर जो अन्तर्विरोध या विषमताएं पैदा हुई, यह उनको ही व्यक्त करती हैं। पितृ-सत्ताक ग्रामो की व्यवस्था, जो दासता की बेड़ियों से कल ही मुक्त हुई थी, पूँजी और राज्य के हाथ मे अक्षरशः लूटने-खसोटने के लिए दे दी गई। व्यक्तिगत व्यक्ति-परक आर्थिक व्यवस्था और किसान-जीवन की सदियो पुरानी बुनियाद इतनी तेज़ी से टूट फूट गई कि अचम्भा होता था। एक पैगम्बर की हैसियत से, जो मानवता के उद्धार के लिए नई औषधियाँ तलाश करता है, टॉल्स्टॉय की कोशिश हास्यास्पद हैं। और वे टॉल्स्टॉयवादी, जो चाहे रूसी हों या विदेशी—जिन्होने उनके उपदेश के सबसे निर्बल पक्ष को एक निश्चित मतवाद के रूप में ढालने की कोशिश की है, वास्तव मे और भी दयनीय हैं।"

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अच्छी कला क्या है? अगर किसी मार्क्सवादी को केवल एक ही वाक्य मे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य किया जाय तो वह कहेगा, 'जिस हद तक कोई कला विधेयात्मक सौन्दर्य-परक प्रभावो से उस वास्तविकता को ईमानदारी से प्रतिबिम्बित करती है, जिसको अपना उपकरण बनाया है, वह कला उस हद तक अच्छी होती है।' इस उत्तर मे एक तत्त्व वास्तविकता का है और साथ ही एक निरपेक्षता का तत्त्व भी है। यह कसौटी इस अर्थ मे सापेक्ष है कि बाह्य वास्तविकता, मुख्यतः मनुष्य का सामाजिक जीवन एक ऐसी चीज है, जो परिवर्तनशील और विकासमान है और जो पूरी तरह बदलती जाती है। लेकिन इस सापेक्ष पक्ष पर अधिक जोर देकर उसे इस हद तक अतिरञ्जित कर देना बहुत आसान है कि इसके अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही न दे। एक मार्क्सवादी का कर्तव्य है कि वह इस गर्ते मे गिरने से अपने को विशेष सावधानी से बचाय, जिसमे पूँजीवादी समाज मे पैदा होने वाले अनेक दार्शनिक गिर चुके हैं। एक मार्क्सवादी के लिए इस सापेक्ष्य तत्त्व के रहने का यह मतलब नहीं होता कि वह यह विश्वास करने लगे कि हम कला-कृतियो की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निर्णय करने के सम्बन्ध मे किसी विषयगत परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। उपरोक्त उत्तर में निरपेक्ष तत्त्व का अर्थ निश्चय ही वास्तविकता का प्रतिबिम्ब होता है—ईमानदारी की किस हद तक वास्तविकता उसमे प्रतिबिम्बित हुई है। इस क्षेत्र मे निर्णय, व्यक्तिगत रुचियो और चुनावो पर अन्तः निर्भर नहीं करते, बल्कि बड़ी सीमा तक उनका विषयगत निर्धारण किया जा सकता है।

यहाँ हम देखते हैं कि यह परिस्थिति बहुत-कुछ वैज्ञानिक सत्य के प्रश्न से मिलती-जुलती है। अनेक लोगो की धारणाओ के विपरीत मार्क्सवादी निरपेक्ष अस्तित्व के सत्य को स्वीकार करते है। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'भौतिकवाद और प्रयोग-सिद्ध आलोचना' मे इस बात पर जोर दिया है कि यद्यपि किसी एक समय हमारा ज्ञान अपूर्ण और ऐतिहासिक रूप से सीमित होता है, फिर भी विषय-गत तथा निरपेक्ष (स्थिर नहीं, बल्कि मूलतः गत्यात्मक) वास्तविकता होती है। इस वास्तविकता को ही लेनिन सत्य के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार संक्षेप में उनके मन को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है, 'सत्य निरपेक्ष होता है, ज्ञान सापेक्ष। कला में भी निरपेक्ष और सापेक्ष का द्वन्द्वात्मक अन्तर्गुम्फन उसी प्रकार का होता है, जो वास्तविकता को स्वयं अपने

ढंग से प्रतिबिम्बित करता है। निश्चय ही विज्ञान का पथ ठीक ऐसा ही नहीं है। कला कला है, —विज्ञान विज्ञान।' और यद्यपि अन्ततः दोनों एक ही वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करते हैं लेकिन फिर भी कोई व्यक्ति उन दोनों से खल्त-मल्त नहीं कर सकता। कला 'अपने विशिष्ट ढंग से ही वास्तविकता को ग्रहण करती है, और उसका मनन करके उसे अपनी विषय-वस्तु बनाती है। कला स्वयं अपनी भाषा में बोलती है, उसके अपने मूल्य होते हैं और उसका अपना प्रभाव, तथा अपने ढग से ही वह प्रभावित करती है। कला को विज्ञान बनाने की कोशिश बिलकुल अनुचित होगी। साथ ही यह भी एक बड़ी भारी गलती होगी, अगर हम इस तथ्य के महत्त्व की जाँच-पड़ताल न करें कि कला और विज्ञान दोनों एक ही जगत् में पैदा होते और विकास पाते हैं। एक ही मानव-चेतना में गुम्फित होते और सम्मिश्रित होते हैं। वे एक ही बाह्य-वास्तविकता को अपने-अपने ढंग से प्रतिबिम्बित करते हैं।

इसके साथ ही हमें चाहिए कि हम, विज्ञान से कला किस प्रकार भिन्न है, इन तथ्यों और समस्याओं की उपेक्षा न कर बैठें। सोवियत विश्व-कोष में 'सौन्दर्य-शास्त्र' शीर्षक निबन्ध में हमें निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं :

> "विज्ञान से अलग कला की मूल विशेषता यह है कि वह सामाजिक जीवन की मूर्त वस्तु को दार्शनिक राजनीतिक और दूसरे विचारों को आलंकारिक रीति से वस्तु-चित्र की भाषा में प्रतिबिम्बत करती है......किन्तु वास्तविकता का विज्ञान द्वारा प्राप्त वास्तविकता के ज्ञान और कला द्वारा प्राप्त वास्तविकता के ज्ञान में केवल ज्ञान के रूप का सरल भेद नहीं है, बल्कि यह भेद उनकी भिन्न-भिन्न प्रणालियों में है, जिनके द्वारा वह वास्तविकता पर गिरफ्त कायम करके उसे ढालते हैं, और प्रभावित करते हैं। अधिक मूर्त शब्दावली में कहें तो जगत् के कलात्मक अंकन का विशेष गुण यह होता है कि कला आलंकारिक रीति से कल्पना-जन्य रूप में अपने को व्यक्त करती है और लय और अवयवों की संगति का निर्माण करके उसे पूर्णता देती है तथा सन्तुलन-सामञ्जस्य स्थापित करके चित्रमय प्रभाव डालती है......।"

इसी निबन्ध में सौन्दर्य की समस्या पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है :

> "मार्क्सवाद की विचार-धारा आदर्शवादी दृष्टिकोण की इस बात को अमान्य मानती है जिसके अनुसार सौन्दर्य पूर्ण रूप से एक ऐसी विषयी-गत वस्तु समझी जाती है, जिसकी जड़ें वास्तविकता के सामान्य विषय-गत गुणों में नहीं हैं। इसके साथ-साथ मार्क्सवाद इसके विपरीत धारणा को भी अस्वीकार करता है। जिसके अनुसार सौन्दर्य के गुण की अवस्थिति सीधी प्रकृति अथवा वस्तुओं में की जाती है, जिन्हें मनुष्य के क्रिया-कलाप के समस्त ऐतिहासिक सूत्रों से और हमारी अनु-भूति तथा ज्ञान से स्वतन्त्र मानी जाती है। प्रकृति अथवा उसके अन्य उपकरण अपने-आपमें न सुन्दर हो सकते हैं, न असुन्दर। सौन्दर्य की भावना तो मनुष्य के अन्दर ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उसकी उत्पादन-क्रिया के विकास के दौरान और उसमें से उत्पन्न कला और संस्कृति के विकास के दौरान पैदा होती है। विषयी-गत आदर्शवाद के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं

कि प्रकृति-सौन्दर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयी-गत अवस्था ही नहीं है, बल्कि प्रकृति की वस्तुओं में और मनुष्य के सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषय-गत गुणों के कारण होती है।

"हमारे अन्दर सुन्दरता अथवा असुन्दरता के गुणों की अनुभूति अपने-आप केवल चीजों को देखने या सोचने-मात्र से नहीं पैदा हो जाती, बल्कि इस भावना का विकास संस्कृति और उत्पादन-क्रिया के विकास के दौरान होता है और वही एक लम्बी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रकृति के ऊपर मनुष्य की दक्षता जितनी ही अधिक होती है, सौन्दर्य की प्रतीति भी उसके अन्दर उतनी ही अधिक होती है। जिस समय पर्वत-मालाएं मनुष्य के लिए एक दुर्गम बाधा के रूप में थी, उस समय पर्वतीय दृश्य मन में भय और आशंका की भावना का उदय करता था। चित्र-कला और साहित्य में दृश्य-चित्रों का इतिहास इस वक्तव्य को प्रमाणित करता है। वस्तुतः मनुष्य सामाजिक और अन्ततः उत्पादन-क्रिया के ऐतिहासिक विकास के मध्य ही अपने अन्दर वह कौशल पैदा कर पाता है, जिसके द्वारा वह शोभा, सामञ्जस्य, सौन्दर्य, सन्तुलनपूर्ण वस्तुओं का निर्माण कर पाता है। और इस क्रिया के प्रभाव में ही वह प्राकृतिक वस्तुओं के अन्दर भी ऐसे ही गुणों को विकृत अथवा अर्ध-पूर्ण रूपों से अलग करके देखना सीखता है। इस क्षेत्र पर भी मार्क्स का यह सिद्धान्त लागू होता है कि प्रकृति को बदलने के दौरान मनुष्य अपने स्वभाव को भी बदल देता है। सौन्दर्य-भावना के इस विकास में लोक-कलाओं और दस्तकारियों से लेकर 'शुद्ध कलाओं' के विकास ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है।"

यहाँ आकर हमें रूप और वस्तु के प्रश्न की भी जाँच करनी चाहिए। मार्क्सवादियों का दृष्टिकोण यह है कि रूप-विधान का अध्ययन करके जहाँ तक सम्भव हो, वस्तु से निकटतम सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अन्दर विषय-वस्तु से अलग करके रूप को न पूरी तरह से समझा जा सकता है, न उसे ठीक-ठीक पसन्द-नापसन्द किया जा सकता है। साथ ही यह भी सही है कि विषय-वस्तु की कलात्मक सृष्टि बिना कलात्मक रूप-विधान के सम्भव नहीं। सच तो यह है कि ये दोनों आंगिक रूप से परस्पर सम्बद्ध तत्त्व हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। कला-रूपों के इतिहास और विकास को सामान्यतः समाज के इतिहास और विकास से असम्बद्ध करके नहीं समझा जा सकता। कला के रूप ज्यों-त्यों मनमाने ढंग से विकसित नहीं हो सकते, बल्कि उस विषय-वस्तु से सम्बन्धित होकर विकास पाते हैं, जिसे वे रूपायित और प्रतिबिम्बित करते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के इस बुनियादी सत्य को समझने में कला-रूपों के विकास और शिल्प-विज्ञान (टैक्नोलॉजी) के विकास में तुलना करने से सहायता मिलेगी।

अक्सर एक प्रश्न उठाया जाता है कि क्या किसी कला-कृति का 'राजनीतिक मूल्य' उसके सौन्दर्य-मूल्य से अधिक नहीं हो सकता या उसका सौन्दर्य मूल्य उसके राजनीतिक-मूल्य से अधिक नहीं हो जाता। प्रश्न को इस तरह पेश करने से होता यह है कि लोग कला के सौन्दर्य-मूल्य को उसके रूप से जोड़ देते हैं, और उसके राजनीतिक मूल्य को उसके विषय-वस्तु का पर्याय मान लेते हैं। सोचने का यह ढंग मूलतः अमार्क्सवादी है। किसी कला-कृति का राजनीतिक मूल्य

[illegible] की भी तरह उसके रचयिता, लेखक या कलाकार के सचेत रूप से स्वीकृत राजनैतिक सिद्धान्त हो या उसकी कृति मे जान-बूझकर भरे गए मतो पूर्वाग्रहों तक ही सीमित अथवा सम्बद्ध नहीं होता। वास्तविकता किसी कला कृति के विषय-वस्तु के अन्दर किस हद तक सजीव और सच्चे रूप मे प्रतिबिम्बित होती है, उसके राजनीतिक मूल्य का यही मुख्य स्रोत है। अगर कोई लेखक सचेत रूप से प्रगतिशील दृष्टिकोण का हामी है, तो इससे वास्तविकता को सच्चाई से प्रतिबिम्बित करने की शक्ति अनिवार्यतः कम नहीं हो जाती, बल्कि इसके विपरीत वह बढ़ भी सकती है, जैसा कि मैक्सिम गोर्की के उदाहरण से सिद्ध है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि एक कलाकार, जिसका राजनीतिक दृष्टिकोण समुचित रूप से विकसित न हो, एक ऐसे कलाकार की अपेक्षा, जिसका राजनीतिक दृष्टिकोण पूरी तरह उद्बुद्ध है,—अनुलनीय रूप से महान् हो। जोला की तुलना में बालजक को महानतर लेखक स्वीकार करते समय मार्क्स और एंगिल्स ने इस तथ्य को माना था। और अपने समय के अनेक उग्र-पन्थी लेखकों की तुलना मे टॉल्स्टॉय को महान् सिद्ध करते समय लेनिन ने भी इस तथ्य को स्वीकृति दी। ऐसे लेखकों की कृतियों का मूल्य आँकते समय हर सच्चा मार्क्सवादी यह नही देखता कि उसमे कलात्मक मूल्य तो महान् है, लेकिन राजनीतिक मूल्य नगण्य है, बल्कि इसके विपरीत, चूँकि उसका कलात्मक मूल्य महान् है, इसलिए उनका राजनीतिक-मूल्य भी महान् होता है। क्योंकि जिस सचाई के साथ उस जटिल वास्तविकता को ये कृतियाँ प्रतिबिम्बित करती हैं, जिनके द्वारा और जिनके माध्यम से राजनीति स्वयं गतिमान है, इस पर ही उन कृतियो का मुख्यतः राजनीतिक मूल्य निर्भर करता है। बालजक और टॉल्स्टॉय के सम्बन्ध में तो कहना चाहिए कि उनका कलाकार अपने कर्तव्य के प्रति इतना ईमानदार है कि यह जगत् जैसा है, इसको वैसा ही चित्रित करने के लिए वह बिना सचेत हुए या अनजाने ही उन शक्तियो को भी चित्रित करता है, जो उसकी सचेत रूप से मान्य और सामाजिक दर्शन द्वारा उत्पन्न अपनी आशाओ और आकांक्षाओं को मिटा देंगी।

अनेक आलोचको और कुछ मार्क्सवादियो की भी यह धारणा है कि समाजवादी कला किसी भी रूप मे स्वच्छन्दतावाद (छायावाद) को अस्वीकृत कर देगी, क्योकि समाजवादी कला यथार्थवाद पर ही सबसे ज्यादा जोर देती है। एक सच्चा मार्क्सवादी-स्वच्छन्दतावाद को एकदम अस्वीकृत नही करता, बल्कि वह इस बात की माँग करता है कि स्वच्छन्दतावाद को भी सक्रिय और क्रान्तिकारी होना चाहिए, न कि आदर्शवादी और बुर्जुआ। क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद, क्रान्ति और उसके उद्देश्यो के प्रति मनुष्य की उत्सर्ग-भावना की समस्त ऊष्मा, उत्कण्ठा और भाव-जन्य वैभव को व्यक्त करता है। क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद आदर्शवाद को इसलिए त्याग देता है कि वह समाज के मूल मे काम करने वाली शक्तियो और संघर्ष की उन आवश्यक परिस्थितियों के प्रति संवेत होता है, जिनमे पड़कर ही मनुष्य-जाति एक उच्चतर जीवन की प्राप्ति कर सकती है। क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद केवल उच्चतर जीवन की आशा और कामना ही नही करता, या सरल भाव से इस बात पर विश्वास नहीं कर लेता कि समाज का वह वर्ग, जिसके स्वार्थ प्रगति के मार्ग मे बाधक हैं, अपने-आप पथ से हट जायगा। वह तीव्र रूप से भाव-प्रधान होता है, परन्तु भावुकतापूर्ण नहीं। उदाहरण के लिए यूरोप के उन्नीसवीं सदी के साहित्य मे हमे अनेक ऐसे लेखक मिलते हैं, जो समाज की आलोचना करने मे तो काफ़ी यथार्थ-

वादी हैं, लेकिन समाज की बुराइयो को दूर करने के लिए जो वे इलाज बताते हैं, उसकी कल्पना अत्यन्त भौडे ढंग की स्वच्छन्दतावादी होती थी। ऐसी परिस्थिति मे उनका यथार्थवाद उनके स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध पड़ता था।

स्वच्छन्दतावाद मे समाजवाद को प्रतिबिम्बित करने के लिए यथार्थवाद की जरूरत है, लेकिन एक सही किस्म के यथार्थवाद की। फोटोग्राफी चित्र-जैसा यथार्थवाद या प्रकृतिवाद अपने ढंग से उतना ही बुरा होता है, जितना कि आदर्शवादी स्वच्छन्दतावाद। इसकी सबसे बड़ी कमी यह होती है कि घटनाए और वस्तुए किस दिशा मे गतिमान है, यह इस बात को न देख सकता है, न कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित कर सकता है। प्रकृतिवाद चीजो को केवल उसी रूप मे देखता है, जिस रूप मे वे हैं, न कि वे क्या होती जा रही हैं। वह केवल तात्कालिक वस्तुओ से सम्बन्ध रखता है, और गत और आगत को छोड़ देता है। समाजवादी यथार्थवाद भी वैसे तो वर्तमान मे ही दिलचस्पी रखता है, लेकिन एक अलग ढंग से। गोर्की ने कहा :

> "हम जो-कुछ हैं, उसको ठीक-ठीक रूप में पेश करने में दिलचस्पी रखते हैं। हम ऐसा इसलिए करना चाहते हैं, क्योंकि हम उन सबको स्पष्ट और गम्भीर रूप से समझ लेना चाहते हैं, जिन्हें हमें निबटाना है, और जिनका निर्माण करना है। समाजवादी यथार्थवाद अपने उस वर्ग की ही तरह, जो उसका जनक है, वर्तमान और भविष्य में से अपने जीवन की खाद लेता है।"

यथार्थवाद और प्रकृति के भौडे यन्त्रवत् चित्रण में सावधानी से फर्क निकालते हुए गोर्की ने लिखा :

> "किसी तथ्य को कला में पुनः उपस्थित करने की कोशिश करते समय यथार्थवाद को इसका अधिकार नहीं है कि वह उस तथ्य के आगत भाग्य की जाँच-पड़ताल से इन्कार कर दे। क्योंकि गत और आगत दोनो ही, यद्यपि हमारी स्थूल आंख से छिपे होते हैं, परन्तु फिर भी वर्तमान के समान ही पूरी तरह यथार्थ होते हैं।"

फोटो-चित्र वाला यथार्थवाद या प्रकृतिवाद कला के क्षेत्र मे वैसा ही होता है, जैसा विज्ञान के क्षेत्र मे रीति-बद्ध न्याय शास्त्र होता है, या दर्शन के क्षेत्र में यान्त्रिक भौतिकवाद। वह वस्तुओ के अन्दर इस बात को नही देख पाता कि वे बदलकर कौन-सा रूप ग्रहण कर रही हैं। वह वास्तविकता को विजड़ित कर देता है और वह ऐसा करके उसका सारा सत्व खींचकर उसकी हत्या कर देता है। इस प्रकार का यथार्थवाद यदि विकृत और रुग्ण मानस की उपज न हुआ तो भी अनिवार्यतः रूप-रंग-रस-हीन, रूक्ष गद्य-तुल्य होता है। वह छोटे-छोटे ब्यौरे तो एकत्र करता है, लेकिन उनके बीच कोई सगठित आकार नही देखता। वृक्षो को तो देखता है, परन्तु वन को नही, खण्ड-खण्ड पर उसकी दृष्टि जाती है, समग्र इकाई पर नहीं। प्रकृतिवाद अन्धे की तरह प्रयोगवादी और निष्फल रूप मे स्थिरतावादी होता है।

कला मे रूपवाद या रीतिवाद भी वास्तविकता की वस्तु पर बलात्कार करता है। प्रकृतिवाद यदि विषय-वस्तु के एक पक्ष पर अत्यधिक जोर देता है, तो रूपवाद साधारणतया विषय-वस्तु का तिरस्कार करता है। अन्ततः वह सामाजिक चेतना से कला का और सामाजिक दायित्व से कलाकार का विच्छेद करा देता है। फोटो-चित्र वाला प्रकृतिवाद यदि यान्त्रिक भौतिकवाद के

समान है, तो रूपवाद अध्यात्मवादी आदर्शवाद के समान। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि दोनों का दृष्टिकोण सामान्य रूप से निराशावादी है। प्रकृतिवाद और रूपवाद में एक और गुणसाम्य है, वह यह कि दोनों ही अक्सर नैतिक मूल्यों के प्रश्नों से कतराते हैं, उन दोनों की प्रवृत्ति यह है कि दायित्वों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, और वे तो गैर जानिबदार निष्पक्ष और संघर्ष से एकदम तटस्थ हैं।

मार्क्सवाद का दृष्टिकोण यह है कि नैतिक मूल्यों के प्रश्न से कला अपना दामन बचा नहीं सकती। एक कलाकार नैतिक मूल्यों को भूल सकता है या उनका तिरस्कार कर सकता है। लेकिन उसकी रचना सामाजिक जीवन में अपनी भूमिका में भाग लेती है, और चाहे योजना के अनुसार अथवा योजना के बिना चेतन अथवा अचेतन रूप से वह अपना प्रभाव डालती ही है। इसलिए मार्क्सवाद साहित्य में निराशावाद और अश्लीलता की प्रवृत्तियों को निन्दनीय ठहराता है। वह आशावाद का प्रतिपादन करता है, जो मुक्तिदायी है। उसका आशावाद इसी जगत् का है। इसके सुख-आनन्द और पुरस्कार यहीं के हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ये सुख-आनन्द अनिवार्यतः शरीर-सुख तक ही सीमित हैं। इसका उल्लास एक भ्रम-टूटे उमरखैयाम का विलास नहीं है, जो अधिक शराब, अधिक नारियों और अधिक गीतों की माँग करता है। लेनिन ने कहा : "हमें न तो साधु चाहिए और न डौन जौन-जैसा लम्पट ही, और न जर्मन नक्कूशाहों का मध्यमार्गी दृष्टिकोण ही।" इसका आशावाद मानवता के प्रति हमारी आस्था से पैदा होता है, और इस जीवन का आनन्द न तो उच्छृङ्खलता का परिणाम है, और न उन्माद का ही।

समाजवादी यथार्थवाद जिस भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है, वह न तो शिश्नोदरवादी है, और न आदि युगवादी ही। जैसा कि हम देख चुके है, यह दर्शन बुद्धि-तर्क-योजना, कला और विज्ञान पर जोर देता है। यह दर्शन 'आध्यात्मिक मूल्यों' या बौद्धिक और कलात्मक आनन्द का तिरस्कार नहीं करता, बल्कि 'परलोकवाद' का विरोध करता है। इस दर्शन ने पाया है कि परलोकवादी दार्शनिक धाराएं अक्सर निराशावादी होती हैं, और इस पृथिवी पर रहकर मनुष्य क्या कुछ कर सकता है, इसकी सम्भावनाओं की वे अपेक्षा करती हैं।

गोर्की के शब्दों मे समाजवादी यथार्थवाद होने को करना मानता है, और अस्तित्व को रचनात्मक क्रिया के रूप में ग्रहण करता है। जिसका उद्देश्य यह है कि मनुष्यों के समस्त मूल्य-वान व्यक्तिगत गुण अबाधित रूप से निरन्तर विकास करते रहे, ताकि मनुष्य मिलकर प्रकृति की शक्तियों पर विजयी हो सके और स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन प्राप्त कर सके, तथा इस पृथ्वी पर निवास करने के महान् सौभाग्य का आनन्द ले सके। जिसे मनुष्य अपनी बढ़ती हुई जरूरतों के अनुरूप अपने प्रयोग मे लाना चाहता है, और जिसे एक महान् परिवार मे सम्मिलित मनुष्य-मात्र के लिए एक शानदार निवास-स्थान बना देना चाहता है।

अनुवादिका : कुमारी विजय दास

गोपाल हालदार

समसामयिक बंगला-साहित्य

समसामयिक बंगला-साहित्य का अध्ययन करने से हमे यह अनुभव नही होता कि बंगला-साहित्य में कितना महान् परिवर्तन हो रहा है। विगत दस वर्षो मे बंगाली जीवन मे जो दो प्रकार के विपर्यय हुए हैं, वे बंगालियो के सामने इतने सत्य है कि उनका प्रभाव साहित्य मे देखकर हम यह नही सोच पाते कि साहित्य मे कोई मौलिक परिवर्तन हो रहा है।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक आधुनिक साहित्य मूलतः मध्यवित्त शिक्षित आदमियो का ही साहित्य था। उसका दृष्टिकोण भी मध्यवर्गीय था। उस समय का काव्य भी सीमित जीवन का काव्य था। उसके आवेग और आनन्द का उत्स व्यक्ति-जीवन मे ही था। उसका कथा-साहित्य भी उच्च मध्यवित्त-जीवन और चरित्र से ही सम्बन्ध रखता था। यहाँ तक कि मध्यवर्गीय लेखको को थोड़ा नीचे उतरकर निम्न मध्य वर्ग के विषय में लिखने मे शर्म लगती थी। तृतीय दशक का बस्ती-साहित्य इसी शर्म का प्रतिवाद था, और प्रतिवाद से भी ज्यादा वह मध्यवर्गीय रोमांटिकता की प्रच्छन्न प्रतिध्वनि था। उस समय साहित्य का आदर्श रस-सृष्टि था। वास्तव में वह 'कला कला के लिए' का राविन्द्रिक संस्करण था।

आधुनिक बंगला-साहित्य का यह बुनियादी दृष्टिकोण चतुर्थ दशक मे टूट रहा था, सम्पूर्ण विश्व का यह 'कालान्तर' रवीन्द्रनाथ ने तृतीय दशक मे अनुभव किया था। आधुनिक बंगाली-जीवन जब बिलकुल बिखर गया—प्रथमतः दुर्भिक्ष (१९४३-४४) मे, द्वितीयतः युद्ध मे और तृतीयतः १९४६-४७ के साम्प्रदायिक दंगे और बंग-विभाजन मे, तब साहित्य का गति-परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गया। इसमे बाधाएं आईं, परन्तु बिना बाधा के जीवन आगे नही बढ़ता। इसी लिए गद्दी-नशीन लेखक इस साहित्य की प्रगति को नहीं रोक पाए। अब भी बंगला-साहित्य मे ऐसे बहुत-से रुचि-वागीश लेखक है जो इस परिवर्तन से दूर भागते हैं। वे लोग आज भी मध्य-वर्गीय जीवन और साहित्य के प्राचीन आदर्शों से ही चिपटे हुए हैं, जैसे बुद्धदेव बसु, जो अति-राविन्द्रिक कवि हैं, या उनके विरोधी सजनीकान्त दास, जो १९वीं शताब्दि के आदर्शों के पीछे चलते है या मोहितलाल मजूमदार, जो बंगाली के दुर्गाधिकारी है, या प्रमथनाथ वीशी, जो दक्षिण-पन्थी तीरन्दाज है। यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध और दुर्भिक्ष के समय जो लोग प्रगति के पथ पर थे, उनमे से अनेक साहित्यकार इस कांग्रेसी स्वाधीनता के युग मे पीछे हट गए हैं और उन्होंने कांग्रेसी पुरस्कार ग्रहण किये हैं और कुछ साहित्यकार कांग्रेसी दमन के भय से पीछे हट गए हैं। कुछ लोग इस संकट से विभ्रान्त और निराश होकर गतिरुद्ध हो गए हैं—न ययौ न तस्थौ। जो लोग पहले बहुत प्रगतिशील कहे जाते थे, वही लोग, आज कालधर्म और तपोधर्म के दबाव से उदरोरू श्रेणी मे आ गए है।

समसामयिक बंगला-साहित्य में आज यह सत्य स्वीकृत हो गया है कि साहित्य समाज-

निरपेक्ष नहीं है। समाज की छाप उसमें होनी अनिवार्य है। इसीलिए आज का साहित्य व्यक्ति-केन्द्रित और सीमित जीवन से सम्बन्धित नहीं माना जाता। आज का कथा-साहित्य उच्च-मध्य वर्ग के जीवन से सम्बन्धित न होकर दुर्भिक्ष-पीड़ित, निम्न-मध्यवर्ग, श्रमिक और कृषक एवं उन्हीं के सहयोगी वेजस्लेव (Wage Slve) के जीवनों से सम्बन्धित है। साहित्य के आदर्श भी आज वास्तव और सामाजिक दायित्व पर आधारित हैं।

यह स्पष्ट है कि बंगला-साहित्य मे परिवर्तन हो गया है। साहित्य के विगत युग का प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। लेकिन इस नए युग का रूप अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। तथ्य की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यह वास्तव-युग है या यह युग वस्तु को ठीक ढंग से देखना चाहता है—रवीन्द्रनाथ ने भी यह स्वीकार किया था। इस युग के साहित्य का एक सामाजिक दायित्व है—रवीन्द्रनाथ ने अपनी अन्तिम दिनों की रचनाओं मे यह स्वीकार किया था, किन्तु बाद से साहित्य के अन्दर इस वास्तव का परिचय कहाँ मिलता है? इस युग मे वास्तव पूर्ण रचनात्मक साहित्य कहाँ लिखा गया है?

युगान्त का साहित्य-संकट

समसामयिक बंगला-साहित्य को देखकर इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नही है। काव्य मे, उपन्यासो मे, नाटको मे आज जो मिलता है उसमे ज्यादातर प्रचार है। वक्तव्य जब साहित्य बनता है तब वह प्रचार नहीं, प्रकाश होता है; और उसमे अमोघ शक्ति एवं दूर तक प्रभाव डालने की क्षमता होती है। प्रकाश और प्रचार मे विरोध नहीं है, परन्तु भेद बहुत है। आज के लेखक इसको नहीं समझते। आज की अधिकाश बंगला-कविता कविता नही, वक्तृता है। लेखक के पास बोलने का मसाला तो है, किन्तु मसाला रहने से ही क्या बोला जा सकता है? यहीं पर सृष्टि-शक्ति की परीक्षा होती है।

सृष्टि-शक्ति का अर्थ केवल कला-कुशलता नहीं है, लेकिन कविगण ज्यादातर यह गलती करते है। वे समझते है कि वाग्जाल के द्वारा काव्य का सत्य प्रकट हो सकता है और वे आधुनिक पाश्चात्य कविता की प्रयोग शैली मे ही सिद्धि का पथ खोजते है और पाश्चात्य लेखको की प्रत्येक बात का अन्धानुकरण करते हैं। सार्थक सृष्टि मे रूप-विधान और विषय-वस्तु अभिन्न होता है। फिर भी यदि अलग-अलग विचार किया जाय तो साहित्य मे रूप-विधान विषय-वस्तु का ही अनुसरण करता है—प्रकृति का ही अनुसरण आकृति करती है। जो कवि इस सत्य को जितना नही मानते, वे उतने ही रूप-विधानवादी बन जाते है। यह कहा जा सकता है कि बंगला-साहित्य जिस नूतन युग के पथ पर यात्रा कर रहा है उसकी सीमा पर वह अभी नही पहुँचा है। पूर्व-युग समाप्त हो गया, किन्तु युग-सन्धि की आलोक-छाया के उस पार युगान्तर की सूर्य किरण से स्नात सैकत-भूमि मे उसका पदार्पण नही हुआ है। बंगला साहित्य मे किन्तु यह भी नही कहा जा सकता कि वन वर्ल्ड इज डेड, दि अदर पावरलेस टू बी बार्न—क्योकि वह समुद्र की सैकत-भूमि क्षीण किन्तु सुनिश्चित रूप मे उठ रही है। अनेक पथ-यात्री नए लेखको की सृष्टि के प्रयास मे उस नए युग का आभास दिखाई पड़ रहा है।

अर्थ-हीन कृतित्व

यदि हम लोग नए साहित्यिको की वक्तृता से क्लान्त न हो जायं तो आज के बंगला-साहित्य को देखकर उपरोक्त आश्वासन पा सकते हैं। हमे याद रखना होगा कि पुराने 'स्मार्ट' और

'स्नोब' लेखक और स्थविर साहित्यिक पत्र ही बंगला-साहित्य मे सबसे ज्यादा क्लान्तिकर हैं। आलोचना और प्रबन्ध-साहित्य को छोडकर केवल सृष्टिशील साहित्य पर हम विचार करेगे। पुराने विख्यात साहित्यकारो को भी छोड़ा जा सकता है। उनकी साहित्यिक शक्ति अभी समाप्त नहीं हुई है, किन्तु उन्होने नई शक्ति का अर्जन भी नही किया है। कृतित्व का कोई अभाव नही है—वनफूल का 'स्थावर' कृतित्व की दृष्टि से स्थावर नही है, लेकिन काल या युग की दृष्टि से वह स्थावर है। ताराशंकर का 'नागिनी कन्या काहिनी' एक उल्लेखनीय उपन्यास है, किन्तु वह भी 'हासुली बाकेर उपकथा' की दलदल मे ही फँसा हुआ है। ऐसा ही मनोज वसु का 'जल-जंगल' और प्रबोध सान्याल का 'कादामाटीर स्वर्ग' है। अनेक साहित्य-पत्रो के पूजा-विशेषाको मे भी इसी सत्य का परिचय मिलता है। ताराशंकर का 'संजीवनी फार्मेसी' ('आनन्द बाजार पत्रिका' मे प्रकाशित) उनके अतीत मोह को प्रमाणित करता है। उसमे अम्लान कृतित्व है, किन्तु नए जीवन की चेतना का परिचय नही है। यह भी कहा जा सकता है कि उनकी दो-एक गल्प और नाटको ने गाधीवाद का आश्रय बनाने का प्रयत्न दिखाई देता है। इस कांग्रेसी स्वाधीनता के युग में कांग्रेसियो का आत्म-रक्षा का उपाय है आत्म-छलना मे—इसीलिए सर्वोदय की सृष्टि हुई। जनता को छलने के इस सरल पथ के दर्शन पूजा-विशेषाको मे छपी प्रबोध सान्याल और मनोज वसु की कहानियो मे होते है जैसा कि वनफूल की रचनाओ मे बहुत पहले से मिलता है। इससे धनोपार्जन तो हुआ, किन्तु फिल्म के लिए कहानी देने की तुलना मे वह भी कम है। यह है अर्थ-हीन सिगनीफिकेंस शून्य साहित्य।

लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारो को लेकर हमे उद्विग्न या उत्साहित नही होना है। इन लोगो की सृष्टि मे कृतित्व अब भी है, परन्तु ये लोग अपनी अभिज्ञता से किसी नूतन सत्य को साहित्य मे रूप नही दे पाए। 'देश' पत्रिका मे प्रकाशित 'फेरवार पथे' का लेखक सतीनाथ भादुरी पीछे नही हटा है और 'युगान्तर' पत्रिका मे प्रकाशित 'चोर' या 'गल्प-भारती' पत्रिका मे प्रकाशित 'भागा गोड़ा' के लेखक सरोज रायचौधरी एक कदम बढे हैं; किन्तु इस आगे बढने का कोई विशेष तात्पर्य नही है। इस युग के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। इसीलिए 'शनिवारेर चिठी' मे प्रकाशित 'शेष अध्याय' की लेखिका अमला देवी ने अनचाहे भी कांग्रेस का पर्दाफाश कर दिया है—उस समय जब कि अपने-आप कांग्रेस का पर्दाफाश हो रहा है। इनका कृतित्व भी सर्व स्वीकृत है, किन्तु अब इस कार्य मे क्या विशेषता है?

प्रवीण लेखक रमेशचन्द्र सेन और अमरेन्द्रनाथ घोष आज भी शिथिल नहीं है और उनकी गति रुद्ध नही हुई है। अपेक्षाकृत आधुनिक लेखको की रचना में ही आने वाले दिन का आभास मिलता है। प्रवीणो मे भी नए प्रयास के लिए माणिक वन्द्योपाध्याय का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। बंगला-उपन्यास मे इनका नाम प्रथम पक्ति मे आता है—कुछ समालोचक इनको सर्वश्रेष्ठ समझते है। नए प्रयास और नूतन-पथ-आविष्कार की दुर्जय प्रतीक्षा लेकर इन्होने नए पथ मे कदम रखा है—पूजा-विशेषांको मे इनकी कुछ अच्छी कहानियाँ निकली हैं। 'नूतन साहित्य' मे धारावाहिक उपन्यास 'इतिकथार पटेर कथा' निकल रहा है और 'छन्द पतन' एक नया ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। किन्तु माणिक बाबू अपनी पूर्व कृतियो से आगे बढ सकेगे या नहीं—इसमे सन्देह है, तथापि उनके इस नए प्रयास और नए पथ का हमेशा आदर होगा। और जो-कुछ भी हो भावी युग के इतिहास मे उनको अग्रज का सम्मान प्राप्त होगा।

बंगाली पाठक नारायण गंगोपाध्याय से बड़ी आशा रखते है। भाषा-माधुर्य मे, भाव-तरंग मे, दृश्य और प्रतिवेश-रचना मे आज नारायण बाबू बंगालियो के मन को जीत चुके हैं। इनमे गति और दृष्टि दोनो ही है। 'युगान्तर' पत्र के पूजा-अंक में प्रकाशित 'बाइशे स्रावन' सम-सामयिक कहानियो मे श्रेष्ठ रचना है। परन्तु नारायण बाबू का मन संतुलित नहीं है, जहाँ कि आवेश और चेतना एकाकार हो जायं। उस परिणति मे जब नारायण बाबू पहुँचेगे—किन्तु कब? बंगला देश यही जानना चाहता है।

वही बंगाली पाठक अपनी कौतूहलपूर्ण दृष्टि से दो नवागतो को देख रहे हैं। विगत एक साल के भीतर बंगला-कथा-साहित्य में जो लोग नए आए हैं उनमे से केवल दो से बंगाली पाठक विशेष आशा रखते हैं।

नूतन यात्री

गुणमय मन्ना बंगला साहित्य में पहले 'परिचय' पत्रिका मे एक छोटी किसान-कहानी लेकर आए। छात्र-जीवन खत्म होने से पहले ही उन्होने उपन्यास 'लखीन्दर दीगार' लिखकर अपने को साहित्य-जीवन मे प्रतिष्ठित किया। यह उपन्यास मेदनीपुर के पुलिस-राज (कांग्रेसी युग का) की पृष्ठभूमि को लेकर किसान-जीवन पर लिखा गया है। इसमें त्रुटियाँ हैं और अन्तिम भाग दुर्बल भी है, किन्तु कृषक-जीवन और कृषक-चरित्र इस उपन्यास मे सजीव हो उठे हैं। बंगला में कितने उपन्यासो मे कृषक-जीवन का ऐसा परिचय मिलता है?

समरेश बसु भी बंगला-साहित्य मे 'परिचय' पत्रिका मे प्रकाशित अपनी 'आदाव' कहानी लेकर आए, जो कि साम्प्रदायिक दंगे के विषय मे थी। उसी दिन उनको प्रगतिशील लेखको मे स्वीकार कर लिया गया था। इसके बाद जेल से छूटने पर उनका 'उत्तरंग' उपन्यास सामने आया है। जगद्दल क्षेत्र मे जूट के कारखानो की स्थापना की यह कहानी है। यह उपन्यास का प्रथम खण्ड है। इनका कहानी-क्रम, रचना-शैली और कहानी भी त्रुटिहीन नहीं है। प्रकृतिवाद पर इनका बहुत विश्वास है, जिसका परिणाम है यौन-आवेश का चित्रण। लेकिन इस 'उत्तरग' के लेखक को सिगनेट प्रेस ने पुरस्कार दिया है जो कि बंगला का एक प्रधान रसवादी प्रकाशन प्रतिष्ठान है। समरेश बसु की आत्म-प्रस्तुति निश्चित हो—यही बंगाली पाठक चाहता है।

बंगाली पाठक ननी भौमिक को सहर्ष लक्ष्य कर रहा है। सम्भवतः साहित्य मे इनका भी पहला आविर्भाव 'परिचय' पत्रिका द्वारा ही हुआ है। पूजा-विशेषांको मे भी इनकी सार्थक अच्छी कहानियाँ निकली हैं। इनमे पहले से अधिक सम्पूर्णता है। ननी बाबू से भी कहानी-लेखक की दृष्टि से नरेन्द्रनाथ मित्र ज्यादा प्रतिष्ठित हैं। युद्ध-काल मे ही इनकी पहली कहानी 'खोल दे बाड़ी' छपी थी, और तभी से वे सुपरिचित है। उनकी शक्ति विकासमान है। उनका नूतन प्रकाशित ग्रन्थ 'चौराई उतराई' है। पूजा-अंको मे प्रकाशित उनकी कहानियाँ भी अच्छी है। चतुष्कोण मे प्रकाशित 'यमी' कहानी मे कृषक-जीवन—जोतदार के अत्याचार से पीड़ित कृषक—लेखक की संवेदना से संवृद्ध और सुन्दर है। 'गणवार्ता' मे प्रकाशित उपन्यास 'अकथिता' टेलीफोन-आपरेटर का जीवन-चित्र है, जिसमे टूटते हुए मध्यवर्गीय समाज का मर्म-दाह, पतनोन्मुखता और जीवन के आग्रह का एक चित्रण है। सम्भवतः नरेन्द्रनाथ को दूर समुद्र के उपकूल का आभास मिल गया है।

'विदीर्ण' के कवि गुलाम कुद्दुस, जो काव्य-क्षेत्र मे नए नहीं हैं, इसी वर्ष औपन्यासिकों

की श्रेणी मे आ गए है और वे अपनी प्रथम कृति ('चतुष्कोण' मे प्रकाशित उपन्यास बॉदी प्रथम खण्ड) से अच्छे उपन्यासकारो मे गिने जाने लगे है । इस उपन्यास मे श्री कुद्दुस ने अर्धसामन्ती मुसलिम परिवार की एक झाँकी चित्रित की है । यह बंगला-साहित्य मे न केवल नया उपन्यास है, बल्कि दृष्टि की स्वच्छता, चरित्र-चित्रण और संवेदनशीलता के स्पर्श से एक सफल कृति भी बन गया है । बंगाली उपन्यासकार कुद्दुस का स्वागत करेंगे ।

नूतन कविता

क्या बंगला-कविता का जीवन समाप्त हो रहा है ? रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के बाद और कोई रवीन्द्रनाथ पैदा नही हुए । इसीलिए इस क्षेत्र में एक गम्भीर अन्तर व्यवधान है, जिसकी पूर्ति कोई एक महान् कवि नही कर पाया । यह कार्य बहुत-से बीच के और छोटे कवियो द्वारा सम्पन्न हो रहा है । यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आजकल की अधिकाश कविता अचल है । प्रत्येक युग मे ऐसा होता है, किन्तु इसमे भी सन्देह नही है कि कुछ अच्छी कविताएं भी लिखी जा रही हैं । सिलहट के अशोक राहा और मृणाल दास अच्छे गीति-काव्यकार हैं; किन्तु आधुनिक कवियो मे विष्णु दे ही सबसे अग्रगण्य है । श्री दे मे इलियट के दोष-गुण और सामाजिक चेतना दोनों ही है । इनके अनेक अनुयायी है । दूसरी ओर विमल घोष एक श्रेष्ठ व्यंग्यकार कवि है, जो अभिशाप की वर्षा करते है । वह बंगला कविता के क्षेत्र मे एक माइनर प्राफेट है । इनके भी अनेक अनुयायी हैं । लेकिन अनुकरण और सृष्टि एक बात नही । सुभाष मुखोपाध्याय और मंगलाचरण चट्टोपाध्याय अपने-अपने ढंग से एक ही लक्ष्य के यात्री हैं, परन्तु सुकान्त भट्टाचार्य के शून्य स्थान की पूर्ति नही हुई है । इसीलिए इनकी जो भी कविता प्रकाशित होती है पाठक उसका संग्रह करते हैं । इस क्षेत्र मे नूतन कवियो में जगन्नाथ चक्रवर्ती, राम बसु और एकनिष्ठ आत्मसधानी सिद्धेश्वर सेन उल्लेखनीय हैं । रामेन्द्र देशमुख और पूर्णेन्दु पत्री—इन दोनो कवियो मे भी सुस्पष्ट प्रतिश्रुति है । इनकी कविता मे बंगाली देश-प्रेम की एक नई धारा प्रवाहित होती है—जनता के देश-प्रेम ने यहाँ ही, आत्म-प्रकाश का पथ देखा है—परन्तु यह भी स्वीकार करना पडेगा कि इनमे से कोई भी जनता के कवि नही हैं और बंगला देश अभी उस कवि की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है ।

केवल कवि ही क्यो, बंगला मे उस साहित्य की भी अपेक्षा की जा रही है जो कि बंगला-साहित्य मे एक युग से दूसरे युग की यात्रा के पर्व को सम्पन्न कर सकेगा—अपनी सृष्टि के अन-स्वीकार्य दान से और अपनी साहित्य-कीर्ति के दृष्टान्त से 'कृषकेर मजुरेर जिवनेर सारीक जे जन ।'

समसामयिक बंगला-साहित्य की यह 'निरुद्देश्य यात्रा' उसकी प्रतिभा के आश्रय मे, जीवन-सत्य के अभियान मे और जनता के आत्माभिज्ञान मे परिणत होगी अवश्य । उस आवि-र्भाव और उस परिणति को सम्भावित और सुनिश्चित करने वाले हैं—यह समसामयिक छोटे और बीच के यात्री-दल—दी ग्रेट माइनर्स । इन लोगो की सार्थकता इसी मे है ।

अनुवादक : निर्माल्यदास गुप्त

डॉक्टर रघुवंश

साहित्य में प्रयोगवाद

जाने-अनजाने हमारे साहित्य के आधुनिकतम काव्य को प्रयोगवादी काव्य की संज्ञा दी जाने लगी है। और अनचाहे ही अज्ञेय जी को इसका नेतृत्व मिल गया है। वे कई अवसरों पर कह चुके हैं और 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में लिख भी चुके हैं : "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। प्रयोग न अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नहीं है, कविता अपने-आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें 'कवितावादी' कहना।" प्रयोग को अज्ञेय जी वाद मानें या न मानें, पर विवाद उन्होंने अवश्य खड़ा किया है—'तार-सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन की आयोजना द्वारा। प्रयोगवादी न कहकर प्रयोगशील ही कहिये, (मैं इसी पक्ष में हूँ) परन्तु आज की कविता ने एक नया मोड़ लिया है, यह तो मानना ही पड़ेगा। और प्रयोग की यह दिशा न केवल भाषा, शैली तथा व्यंजना की दृष्टि से निर्दिष्ट है, वरन् वस्तु-सत्य का एक नया रूप भी उसके सामने आ रहा है। इस नये मोड़ से आगे बढ़ने के लिए अज्ञेय जी ने इस पीढ़ी के कवियों को प्रोत्साहित किया है। वे मानते हैं कि ये सभी प्रयोगशील अन्वेषी के रूप में भिन्न-भिन्न मार्ग के पथिक हैं और उनमें आपसी भारी मतभेद हैं। पर इस काव्य में अभिव्यक्ति (भाषा-शैली) और काव्य-वस्तु (जीवन-जगत्) के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण का आभास, इसकी सामान्य विशेषता भी है। अज्ञेय जी इस युग के सशक्त कलाकार हैं, इस कारण वे वाद-विवाद के केन्द्र बन गए हैं। परन्तु इस युग के सभी कवि न तो अज्ञेय जी के दृष्टिकोण से सहमत हैं और न स्वतः अज्ञेय जी ही इस सीमा तक व्यक्तिवादी हैं जितना उन पर आरोप किया जाता है। इस प्रश्न पर कई प्रकार से विचार किया जा सकता है, और काफी वाद-विवाद इस विषय में हुआ भी है। परन्तु मैं यहाँ सिद्धान्त-पक्ष तक ही अपनी सीमा निश्चित करना चाहता हूँ।

अनेक विचारकों का मत है कि काव्य में युगों से प्रयोग होते आए हैं। मैं इन्कार नहीं कर सकता। हजारों वर्ष की आदमी की जिन्दगी उसके प्रयोगों का इतिहास ही तो है, फिर साहित्य प्रयोगों से कैसे बचेगा। मेरे मन में अनायास एक उदाहरण याद आ रहा है—मन्दाक्रान्ता की मन्द-मन्थर गति और 'मेघदूत' काव्य की कोमल कल्पना। क्या मेघदूत कालिदास के लिए

एक प्रयोग न होगा। भाग्य की बात है कि वह एक सफल कवि का सफल-प्रयोग हो गया। युगो के इतिहास के साथ इस प्रकार न जाने कितने कवियो के नाम लिये जा सकते है, परन्तु यहाँ उसका लेखा-जोखा नही देना है। यह तो कवियो के व्यक्तिगत प्रयोगो की बात हुई। कभी-कभी युगो के संघर्ष से नवीन साहित्यिक चेतना जन्म लेती है। इस युग-चेतना का साहित्य अपने पिछले युग की समस्त मान्यताओ और परम्पराओ को तोड़कर नवीन स्थापनाएं करता है। वास्तव मे भारतीय मध्ययुग के साहित्य मे इस प्रकार की विद्रोह की भावना मिलती है। इस युग के साधको ने सामन्ती सौन्दर्य-बोध की चली आती परम्पराओं के प्रति विद्रोह करके अपने साहित्य मे जीवन और जगत् के प्रति एक नया दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया। इस युग मे सौन्दर्य-बोध के स्तर के साथ संवेदनाओ का क्षेत्र बदल रहा था और साधारणीकरण की परिस्थितियाँ भी बहुत कुछ भिन्न हो चुकी थी। सब मिलाकर मध्ययुग का साधना-काव्य जन-भावना के निकट आ रहा था। परन्तु भारतीय साहित्य और कला का बहुत बड़ा आदर्श इस युग मे बहुत दूर तक स्वीकृत रहा है। भारतीय दृष्टि कला के अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे कवि के व्यक्तित्व को महत्त्व नहीं देती। कवि का व्यक्तित्व अपने काव्य मे पूर्ण रूप से सामाजिक होकर ही स्वीकार किया जाता है। यद्यपि मध्ययुग के साधक अपनी साधना मे व्यक्तिवादी है परन्तु उनकी साधना की अभिव्यक्ति का अधिकाश सामाजिक ही है। इसी प्रकार इस युग के बदलते हुए दृष्टिकोण मे पिछली परम्पराओ की बहुत-सी बाते सम्मिलित हो गई थीं और इस काव्य की अपनी साम्प्रदायिक परम्पराएं भी साथ ही विकसित हो गई थीं। यही कारण है कि इस युग के प्रयोगशील साहित्य मे रोमाण्टिक भावनाए तथा जनवादी प्रवृत्तियाँ आकर भी पूर्ण रूप से नहीं आ सकीं।

इसके बाद पुरातन के प्रति विद्रोह का तथा वस्तु-सत्य के प्रति बदलते हुए दृष्टि-बिन्दु का एक नया युग फिर आता है। यह युग छायावाद का युग है। भारतीय साहित्य मे पहले-पहल कवि के व्यक्तित्व की विजय हुई। इस विषय में पश्चिम के सम्पर्क और प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता। परन्तु एकाएक इस इतने बड़े आन्दोलन के पीछे इस देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन बदलती हुई परिस्थितियो के साथ मध्य-वर्ग की स्थिति इस काव्य की सबसे बड़ी प्रेरणा रही है। द्विवेदी-युग के अनेक कवियो मे हमको व्यक्तिपरक स्वच्छन्दतावाद की अभिव्यक्ति मिलती है, जिसमे रोमाण्टिक भावना का स्वस्थ विकास दिखाई दे रहा था। परन्तु छायावाद की अनेक कुण्ठाओ से ग्रस्त छाया ने एक प्रकार से इस मनो-वृत्ति को ग्रस लिया। यह दूसरी बात है कि छायावाद मे रोमाण्टिक प्रवृत्तियों ने अनेक प्रकार से प्रवेश पा लिया है। रोमाण्टिक प्रकृति-प्रेम और कुछ कवियो मे रोमाण्टिक प्रेम की स्वस्थ अभि-व्यक्ति इस युग के काव्य मे मिलती है, परन्तु अधिकांश काव्य मे मुक्त अभिव्यंजना नहीं हो सकी। छायावाद मे पिछले युगो की नितान्त वस्तु-परकता के प्रति गहरा विद्रोह छिपा है और अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति के लिए खुला हुआ एलान भी है। और इस प्रतिक्रिया मे उसकी अपनी वैयक्तिकता इतनी अन्तर्मुखी हो गई कि कवि वस्तु-जगत् की नितान्त अवहेलना करके स्वप्नो और आशा के रंगीन चित्रों मे अपने को भटकाता रहा। इस काव्य में भाव-जगत् के रंगो का सौन्दर्य है। परन्तु वस्तु-जगत् की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली सवेदनाओं का रूप इन छायाओं मे कही दिखाई नही देता। इस कारण इस सौन्दर्य-काव्य मे शक्ति का नितान्त अभाव है। इन कवियो ने काल्पनिक सौन्दर्य-विधान के साथ साहित्य को भाषा, व्यंजना-शैली तथा छन्द

के क्षेत्र में अपने प्रयोगों के आधार पर अनेकानेक नवीन रूप दिये हैं। मुक्त छन्दों के क्षेत्र में निराला जी के प्रयोग नई पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखते हैं। वस्तु-विषय की दृष्टि से भी, निराला और पंत दोनों कवियों ने छायावाद में एक नये स्वर का योग किया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि छायावादी सौन्दर्य-बोध के प्रति उन्हें स्वयं अधिक आस्था नहीं रह गई है।

छायावाद की स्थिति बहुत दिनों तक सम्भव नहीं थी। जीवन की अस्वीकृतियों को लेकर मानसिक कुण्ठाओं को छिपाकर कल्पना-लोक के छायाभास-वैभव में अपने-आपको भुलाये रखना अधिक सम्भव नहीं था। और न सामाजिक भावनाओं के लिए अज्ञात का रहस्यात्मक आधार ही अधिक टिकाऊ सिद्ध हो सका। और परिणाम स्वरूप आज के काव्य में एक नया मोड़ स्वाभाविक था। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि वह काव्य भाव-जगत् के काल्पनिक कुहासे से निकलकर वास्तविकता की ओर बढने का प्रयास कर रहा है। कम-से-कम नवीन वास्तविक भूमि को पहचानने का प्रयास तो कर ही रहा है। अपनी समस्त भिन्नताओं के साथ भी आज के प्रयोगशील काव्य की यह सामान्य विशेषता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु साथ ही इसमें छायावादी वैयक्तिकता को भी विकास मिल रहा है। अपनी शैली और सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में यह काव्य अति-वैयक्तिक ही अधिक है। और यदि वास्तविक यथार्थ के प्रति जागरूक होना, नई परिस्थितियों के संघर्ष के प्रति सचेष्ट होना इस काव्य के व्यापक दृष्टिकोण तथा शक्तिपूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण हैं; तो साथ ही व्यक्तित्व की अति-प्रधानता इस युग के कवि को व्यक्तिवादी दुरूहता और कुण्ठाओं में भी फँसा सकती है।

इन दो विशिष्ट सीमाओं के बीच इस प्रयोगशील काव्य में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं; जो एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। भिन्न कवियों में ही यह विभेद हो, ऐसा भी नहीं है। एक कवि की विभिन्न कविताओं और कभी एक ही कविता में इस प्रकार का विरोधाभास जान पड़ता है। जान पड़ता है, इसलिए कहता हूँ कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति में इस प्रकार के विरोधों का होना सहज है। कवि की जागरूकता उसकी अपनी संवेदनाओं से सम्बद्ध है। और यह संवेदना वस्तु तथा स्थिति के साथ बदल सकती है और कवि की मानसिक स्थिति से भी प्रभावित होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं सदा काव्य में अस्थिरता और विरोधों का पक्षपाती हूँ। आधुनिक काव्य में यह स्थिति इस युग के कवियों की मानसिक स्थिति की परिचायक है। इस युग का कवि भी मध्यवर्ग का है और वह उसी से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है। मध्यवर्ग की आज की अस्थिर मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का संघर्ष इस काव्य में प्रत्यक्ष है। आधुनिक कवि अपने को एकाएक विरोधी संघर्षों की परिस्थिति में पाता है और अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा है। पिछले युग में मध्यवर्ग का व्यक्ति सामाजिक कुण्ठाओं से अधिक पीड़ित था, पर आज उसके मन पर आर्थिक और सामाजिक वैषम्य का प्रभाव भी तीव्र रूप से पड़ रहा है। उसे महत्त्वाकांक्षाओं को बढ़ाने का अवसर मिला है, पर उन्हें परितृप्त करने का रास्ता नहीं। वह अधिक संवेदनशील है, इस कारण अपनी परिस्थिति को लेकर वह संसार की अनेक विरोधी मान्यताओं को एकाएक सोचने-समझने लगा है। परिणाम स्पष्ट है—एक ओर उसकी संवेदनाएं अधिक वैयक्तिक होती जाती हैं और दूसरी ओर वह अपने को अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं से अलग नहीं कर पाता है। आधुनिक कवि के सामने यही सबसे बड़ी समस्या है। उसके मन में यही समस्या संघर्ष बन गई है कि वह

अपने अधिकाधिक संवेदक व्यक्तित्व से आज के युग की विषम समस्याओं का संतुलन किस प्रकार स्थापित कर सके। फिलहाल आज के काव्य की प्रेरणा यही संघर्ष है। मार्ग खोजने का संघर्ष महत्त्वपूर्ण है, परन्तु वह आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले संघर्ष से बडा नहीं। इस कारण इस संक्रान्ति-काल मे हमारे कवियो के मन मे यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि उन्हे अपने मन को आगामी संघर्ष के लिए तैयार करना है।

यह सब मैंने अपनी ओर से आरोप किया हो, ऐसी बात नही है। दोनो सप्तको के कवियो ने जो अपनी कविता के सम्बन्ध मे वक्तव्य के रूप मे कहा है तथा आधुनिक युग की कविता के स्वरो से भी यही प्रत्यक्ष होता है। एक प्रकार से सभी कवि कविता के सामाजिक मूल्य को स्वीकार करते हैं। एक भी कवि ऐसा नही है जो अपनी कविता के सामाजिक मूल्य के आँकने के पक्ष मे नही है। साथ ही ऐसा भी कोई कवि नही है जो अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेष्ट नहीं है। यहाँ तक कि जो कवि अपने को खुले ढंग से मार्क्सवादी मानते हैं, वे भी अपने विचारो मे तथा कविताओ मे वैयक्तिक मोह को नही छोड़ सके है। जब मै मोह कहता हूँ तब उसका मतलब आवश्यक रूप से गलत या खतरनाक होना नही है। आधुनिक कवियो मे कतिपय ने व्यक्तिवाद को जरा खुले ढग से प्रतिपादित करने का साहस किया है, परन्तु वे भी सामाजिक मूल्यो को अस्वीकार नही करते। उनका कहना है कि व्यष्टि समष्टि की ही इकाई है और व्यक्ति के बिना समाज की सिद्धि होगी कैसे। इसलिए व्यक्तिगत अनुभूतियो का महत्त्व है; हाँ उनको समष्टि तक पहुँचाने की समस्या हो सकती है। मैं समझता हूँ समस्या इतनी नही है, वरन् व्यक्ति और समाज के सन्तुलन की समस्या उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सन्तुलन व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया-भर नहीं है, इसके पीछे व्यक्ति के समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न भी छिपा है।

इस युग के काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो के विश्लेषण द्वारा कुछ सिद्ध करने के पहले मै यहाँ कह देना चाहता हूँ कि इन प्रयोगशील कवियो से हमको पूरी आशा रखनी चाहिए। क्योकि जैसा कहा गया है कि इन सभी कवियो मे सामाजिक चेतना के प्रति जागरूकता है। इनमें से कोई भी उस कोटि का असामाजिक व्यक्तिवादी नहीं है, जिस कोटि के कवि और कलाकार योरप के पिछले युग से ही भिन्न वादो के अन्तर्गत हुए हैं। योरप मे १८५० ई० के बाद से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे भारी परिवर्तन हुए है। डारविन, फ्रायड तथा मार्क्स आदि ने पुरानी आस्थाओ को जड़-मूल से हिला दिया। भौतिक विज्ञान की उन्नति से योरप चमत्कृत हो उठा। इसी बीच अनेक महासंहारक युद्ध भी हुए। इन सब बातो का प्रभाव वहाँ के काव्य मे अनेक रूपो मे देखा जा सकता है। जो बात योरप मे क्रमशः हुई थी, वह हमारे युग के सामने जैसे एकाएक एक-साथ उपस्थित हो गई है। यही कारण है, आधुनिक काव्य मे वस्तु-सत्य को लेकर या शैली को लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ योरप तथा इंगलैंड के पिछले काव्य के समान मिल जाती है। इस काव्य मे विचारो का तीव्र संघर्ष, भावो का संकुलित उलझाव, उपचेतन के प्रभावो का वर्णन हमको वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रमुखता के कारण मिल जाता है। साथ ही इसमे नवीन अनुभूतियो, सत्यो तथा विचारो को व्यक्त करने के लिए पुरानी व्यंजना-शैली के प्रति विद्रोह उसी प्रकार का है। परन्तु असामाजिक तथा अस्वस्थ व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इन कवियो का योरप के कवियो के समान नहीं है। इस कारण इस प्रकार का खतरा इन कवियों से हमारे साहित्य को नही है।

बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजना आज के कवि के लिए अनिवार्य है। आज के युग मे पुरातन साधारणीकरण की स्थिति बदल गई है, इसमे भी कुछ सन्देह नही। व्यक्ति और समाज की प्रतिक्रियाओ को व्यापक आधार देना ही तो साधारणीकरण है। और कविता केवल रस की सिद्धि नहीं ढूँढती, वरन् मन को संवेदन-मात्र का प्रभाव देकर भी सिद्ध होती है। ऐसे लोगों से मुझे बहस नहीं, जो सभी बातों के लिए आप्त-वाक्य का प्रमाण चाहते हैं। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र मे भी ध्वनि-सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। यदि जीवन और जगत् मे नवीन सम्बन्धो की स्थिति उत्पन्न हो जायगी, तो कवि को निश्चय ही ध्वनि के रूप मे अर्थ तथा प्रभाव की व्यजना के लिए नई शब्द-शक्ति नई व्यंजना-शैली तथा नए छन्द-विधान की योजना करनी होगी। कविता मे जब तक प्रभाव को अधिक संवेदक रूप मे डालने की बात स्वीकृत रहेगी, तब तक किसी-न-किसी प्रकार की छन्द-योजना की बात स्वीकृत रहेगी, भले ही वह मुक्त छन्द हो। मै अज्ञेय जी के साथ कहना चाहता हूँ कि मुक्त छन्द कविता छन्द-मुक्त कविता नहीं हो सकती। किसी भी प्रकार के शब्द, वर्ण, ध्वनि, लय, ताल या स्वर का आश्रय लेकर कविता चलेगी ही। मानसिक सवेदनाओं, प्रभावों, कल्पनाओ तथा तीव्र विचारों को एक साथ उपस्थित करने के लिए मुक्त-छन्दो का प्रयोग नितान्त अनिवार्य हो गया है, यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

अब तक मैंने प्रयोगशील काव्य की परिस्थिति तथा आवश्यकता के पक्ष मे कहा है। परन्तु अब प्रश्न उठता है इस काव्य की सफलता तथा उपयोगिता का। सामाजिक महत्त्व स्वीकार कर लेने के बाद काव्य की उपयोगिता के प्रश्न पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता। जहाँ तक सफलता का प्रश्न है, यह सापेक्ष्य है। परन्तु सापेक्ष्य सीमाओ से पूर्व मैं कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा का महत्त्व भी अधिक मानता हूँ। कभी असामाजिक भावनाओ का कवि भी अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा ही लेता है, और यह उसकी अपनी सफलता कही जायगी। पर केवल सामाजिक भावना या आदर्श के बल पर कोई कवि महान् नही हो सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि कोई कितना ही व्यक्तिवादी हो, सौन्दर्यवादी हो, स्वान्तःसुखाय का भक्त हो; परन्तु उसकी कविता की सफलता को आँकने वाला कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा। अर्थात् कवि का काव्य न उस तक सीमित होकर महान् है और न उसके स्वान्तःसुखाय का ही कुछ मूल्य है। यह स्पष्ट है कि कवि अपनी किसी अनुभूति को किसी रूप मे और किसी शैली से व्यक्त करने मे स्वतन्त्र हो सकता है, परन्तु उसके काव्य के अर्थ की सिद्धि सामाजिको को लेकर ही होगी। अभिव्यक्ति मे प्रेषणीयता का गुण अपने-आप मे सन्निहित है।

इसके बाद ही सवाल उठता है उपयोगिता का। अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता के क्षेत्र से इसका अत्यधिक सम्बन्ध है। यदि कवि की तीव्रतम सवेदनाओ और विशुद्ध विचारो के प्रभाव के सार तक दस-पाँच व्यक्ति अपनी समान मानसिक स्थिति अथवा जागरूक सहानुभूति के कारण पहुँच सकें, तो भी कवि के काव्य की स्वीकृति मानी जायगी। इस प्रकार के काव्य के विभिन्न स्तरो की स्वीकृति हो जाती है; और यह मैं मानता हूँ। काव्य कितना ही व्यक्तिवादी क्यो न हो, यदि उसे काव्य की संज्ञा मिल गई तो कवि की स्थिति भी किसी-न-किसी स्तर पर स्वीकार की जायगी। फिर प्रतिभा के अनुसार काव्य मे शक्ति भी होगी। लेकिन आज इस सवाल को यहीं नही छोड़ सकते। आज का साहित्य केवल अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-मात्र को अपना लक्ष्य मानकर नहीं चलता, वह अधिक

गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह करने का हामी भी है; और यही से जवाब का पहलू भी बदल जाता है। मनुष्य के लिए उसके आनन्द की उपलब्धि बड़ी हो चाहे न भी हो, पर उसकी निज की स्थिति अधिक सत्य अवश्य है। आज प्रश्न के इस अंग को छोड़ने वाला व्यक्ति या तो अपनी दमित कुण्ठाओ से पागल माना जायगा या अपने अहंकार से आत्म-विस्मृत। यही संघर्ष की स्थिति योरप के अनेक व्यक्तिवादी कलाकारो के सामने आई है। लुई अरागो (Lowes Oragen), पाल एलुमा (Paul Eluma), पवलो नरूदा (Publo Neruda) लोको, ए ओडेन तथा स्पेडर आदि अनेक कवियो ने अपना मार्ग इसी प्रकार के संघर्ष के बीच से निकाला है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी प्रयोगशील कवियो से शंकित या निराश होने की बात नहीं है। यद्यपि ये अभी बहुत कुछ अपने व्यक्तित्व और अहं मे उलझे हुए जान पडते हैं, परन्तु इनके मन मे मार्ग खोज निकालने की उत्कट इच्छा भी है। वे भाषा और शैली को नये युग के अनुकूल बनाने का प्रयास कर रहे है, जो आगत जागरण युग की भावनाओ को सहज रूप मे वहन कर सकेगी। हमारे इन कवियो के व्यक्तित्व के विकास मे सबसे बड़ी बाधा अहं के विस्तार मे हो सकती है। यदि वे अपने अन्दर के ऊपर उल्लेखित संघर्ष के प्रति जागरूक है और अपने सामाजिक दायित्व के प्रति ईमानदार हैं (मैं मानता हूँ वे हैं), तो निश्चय ही वे अपने मार्ग मे आगे बढ़ सकेगे। नवीन वैचित्र्य की भावना से आकर्षित होने वाले कवियो के हाथ मे प्रयोगशील कविता नये जापानी खिलौने से अधिक शोभा की वस्तु नहीं हो सकती। फिर भी खिलौने का आकर्षण बच्चो के लिए कम नही होता। परन्तु मुझे अपने युग की नई प्रतिभाओ के प्रति पूरा भरोसा है।

शमशेर बहादुरसिंह

कला और साहित्य में 'प्रयोगवाद'

: १ :

'प्रयोगवाद' लफ्ज गलत है; मगर इससे कुछ समझा जाने लगा है आज के हिन्दी-साहित्य और खास तौर से कविता मे। इससे जो समझा जाने लगा है, वह हमेशा नही, होता आया है : यानी, जो-कुछ 'प्रयोगवाद' से समझा जाने लगा है (Symbolism और Formalism का कोई भी रूप), उसको अज्ञेय जी की 'प्रयोग' की व्याख्या 'दूसरा सप्तक' की भूमिका साफ नहीं करती। आत्मा-सत्य की खोज करना और उस खोज की पहचान करना—यह जो 'प्रयोग' है, वह जरूर उतना ही पुराना है जितना कि कविता या कोई भी कला; और इस आत्म-सत्य से बाहर के यथार्थ को भी अज्ञेय जी ने बाहर नहीं रखा है, आत्मसात् किये हुए रूप मे शामिल किया है। यहाँ तक तो कोई दिक्कत नहीं होती। मगर :

दिक्कत होती है, जब हम यह सोचते हैं कि कलाकार को आत्म का सत्य कहाँ से खोजना है? और उस सत्य को रूप देना (यानी उसका साधारणीकरण) किस तरह और कैसे सम्भव होता है कि जिससे वह साफ, गहरा और व्यापक हो सके; और अगर वह ऐसा नहीं होता है तो इसका क्या कारण है?

इस सवाल के जवाब में अज्ञेय जी ज्ञान के विशेषज्ञों में बँट जाने, उसकी सामूहिकता के टुकड़े-टुकड़े हो जाने का ज़िक्र करते हैं।—इस परिस्थिति में जो कला आज पैदा हो रही है या गढ़ी जा रही है, वह पहले किसी युग में देखने को नहीं मिलती। इसीलिए यह आज की 'प्रयोगवादी' कला उस अर्थ में प्रयोग नहीं है जो अर्थ अज्ञेय जी ने प्रयोग की व्याख्या करके समझाया है—चाहे 'खोज' (अन्वेषण) इस कला में पाई जाय, मगर वह सच्ची 'खोज' बहुत कम है; लगभग नहीं है। खुद कविता में प्रयोग की जो मिसालें अज्ञेय जी के 'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' में बहुत सुरुचिपूर्वक जमा की हैं, और जो हम 'प्रतीक' और कभी-कभी 'हंस' में भी देखते हैं, उनमें 'प्रयोग' का वह अर्थ पुष्ट नहीं होता जिसको वह काव्य की परम्परा में शुरू से देखते हैं।

जब वह आत्मसात् हो सकने वाले सामूहिक ज्ञान के अलग-अलग दायरों में बँट जाने का ज़िक्र करते हैं (जो कि अपनी जगह पर गलत नहीं है), तब मैं साफ़ देखता हूँ कि जहाँ एक ओर वह कला में छिपी अनुभूति की सचाई को कलाकार के सामाजिक अनुभव की दिशा से नहीं देखते बल्कि समाज में बँटे हुए ज्ञान के अनुभव के दायरे की तरफ़ से देखते हैं, वहाँ दूसरी ओर वह कला को कलाकार-व्यक्ति की ऐसी वैज्ञानिक-सी प्रयोगशाला में ले जाते हैं, जहाँ वह औरों की प्राप्त अनुभूतियों को अपने अन्दर इकट्ठा करके मिलाने की कोशिश करता है। वहाँ खोज भी होती है, इसमें कोई शुबह नहीं; वहाँ इस खोज का रूप और ढंग भी स्पष्ट होता है, यह भी सही है; और वहाँ यह खोज ऐसे प्रयोगशील कलाकार के आत्मा की एक उपलब्धि भी बन जाती है, और हम उसे वैसा महसूस भी करते हैं। (इलियट, और अज्ञेय की कविता इसका सबसे अच्छा उदाहरण है,) मैंने ऊपर 'मिलाने की कोशिश' का ज़िक्र किया, क्या चीज इनको मिलाती है?—कलाकार की अपनी मौलिक अनुभूतियाँ, जो समाज में अपने संकुचित जीवन से ही उसको मिली।

चूँकि ऐसा कलाकार, जिसका सामान्य रूप से हम इस समय ज़िक्र कर रहे हैं, 'अपनी अनुभूतियों' पर पहले जोर देता है, उस जीवन पर बाद को या बिलकुल नहीं, जो वह समाज में बिताता है; इसलिए जब वह उन अपनी अनुभूतियों में सत्य की खोज करता है। तब यह स्वाभाविक है कि उन अनुभूतियों को और पुष्ट करने के लिए वह ज्ञान के विशेष दायरों में पहुँच-कर उनसे मदद ले (यह सच है कि उनसे ऐसी मदद वह अपनी भावनाओं के ही माध्यम से लेता है); और तब यह भी स्वाभाविक है कि उसकी अभिव्यक्ति में एक प्रयोग करनेवाले वैज्ञा-निक की-सी परेशानी या चिंता प्रकट हो, जिससे उबरने के लिए उसे असाधारण धीरज के साथ 'रूप' और 'प्रकार' की बहुत कठोर साधना करने की जरूरत होगी।

यह साधना स्वयं कलाकार के एकाकी जीवन में लगभग वही स्थान रखेगी जो समाज के जीवन में भरपूर हिस्सा लेने वाले कलाकार का गहरा अनुभव और उससे पैदा होने वाली अनु-भूतियों की मार्मिकता। हालाँकि इस मार्मिकता से वह अद्भुत रूप-साधना वाली मार्मिकता हमेशा दूसरे या तीसरे दर्जे पर रहेगी; क्योंकि उसमें जीवन का गाढ़ा और गर्म रस हमें कभी नहीं प्राप्त हो सकेगा—सिर्फ़ एक पतला नर्म और ठंडा-सा रस हमें मिलेगा, जो अपनी सफ़ाई के कारण हमें कभी-कभी 'क्लासिक' रचनाओं के रस का आभास भी देगा।

विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं कि इस कला-साधना में सभी ललित कलाओं और ख़ास-

कर संगीत का बहुत महत्त्व होगा; और उसका भी कारण है। संक्षेप में यह कि—संगीत मे ही, स्वर के माध्यम से साँस का योग होने के कारण, बाहर के जीवन का (भावना की लय में बद्ध) एक स्निग्ध और गर्म अनुभव हमे हो जाता है। प्रयोगशाला के घेरे मे एक-मात्र संगीत ही खुली मुक्ति का आभास हमे देता है। इसलिए कलाकार, खासकर ऐसा कलाकार, जिसका हम यहाँ जिक्र कर रहे हैं, दौड़कर उसको अपने हृदय से लगाता है और उसे अपनी कला का—चाहे वह पेंटिंग हो, चाहे मूर्ति, चाहे कविता—अभिन्न अंग बनाता है। उसमे उसकी स्थिर-सी भावना को एक गति मिलती है।

चाहे जो कला हो, उसमे एक तरह का नशा होता है, जो कि दूसरो पर भी छा जाता है, कमो-बेश। और हर कलाकार अपनी कला के एक खास तरह के नशे का आदी हो जाता है। सिर्फ चोटी के महान् कलाकार ही अपनी रचना मे एक नही बहुत तरह के कलात्मक नशो का समावेश कर सकने की क्षमता रखते हैं, और उन नशो पर उनका अधिकार होता है, और उन नशो से वे अपने देश और युग को झुमा देते है। इसका कारण क्या है?

इसका कारण यह है कि उनकी प्रयोगशाला होता है उनका अपने देश और समाज के विस्तृत जीवन मे भरपूर हिस्सा लेना। और उसी मे वह अपनी आत्मा का पूरा विकास पाकर ऐसी मार्मिक अनुभूतियाँ इकट्ठी कर लेते हैं जो उनकी रचना का इतने आश्चर्यजनक रूप से सजीव अग होती हैं। हमारे आज के बटे हुए समाज में—जहाँ ज्ञान की अनुभूतियो का साधारणीकरण सम्भव नही, बल्कि विशेषीकरण होना ही स्वाभाविक है—कलाकार के लिए सच्चे अर्थ मे उबरने का एक ही रास्ता है; और वह यह कि वह पूरे समाज के जीवन मे अपने-आपको मिला दे : खो न दे, मिला दे। तब वह नाना विशेषज्ञो के ज्ञान के उन स्रोतो तक आप ही पहुँच जायगा, जहाँ वे एक-दूसरे से दूर-दूर रही हैं, अलग-अलग नही हैं, बल्कि एक-दूसरे मे मिलकर बह रहे हैं। जहाँ-जहाँ भी कलाकार ने अपने जीवन में इस सामाजिकता को गहरा और सार्थक किया है, वहाँ-वहाँ उसको असाधारण शक्ति, मार्मिकता और गहराई मिली है। जिनकी आस्था, जिनका विश्वास अपने-अपने देश के समाज ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के समाज की न सिर्फ धन-दौलत बल्कि ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक अनुभव के (कलात्मक अर्थ मे भी) साधारणीकरण में है, उनके लिए अपनी कला को मुक्त करने का रास्ता वही है जो अरागों और नेरूदा-जैसे कम्युनिस्ट कवियों ने अपनाया, न कि इलियट और एज़रा पाउंड का, जिनकी काव्य-परम्परा दुर्बोध और क्षीण होते होते अब संसार के अधिकाश देशो मे समाप्त-प्राय है।

: २ :

श्री स० ही० वात्स्यायन को इसका श्रेय देना लाज़मी है कि उन्होने 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' नामक कविताओं के संग्रह और मासिक 'प्रतीक' के द्वारा हिन्दी की कुछ अच्छी प्रतिभाओं से आधुनिक कविता के प्रेमियों को परिचित किया। इन प्रतिभाओं में डॉक्टर रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भवानीप्रसाद मिश्र और नरेशकुमार मेहता विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई न सिर्फ कम्युनिस्ट हैं, बल्कि अधिकतर मार्क्स की विचार-धारा से अनुप्रेरित हुए हैं। और प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के अंग हैं, 'हंस' और 'नया साहित्य' के 'अपने' लेखक; जिनकी [illegible] से हम परिचित थे, पर हिन्दी टेक्नीक की विशेषताओं की ओर आम तौर पर

लोगों का ध्यान नहीं गया था। ऐसा लगता था जैसे साहित्य में, विशेषकर कविता में शिल्प का महत्त्व अच्छी तरह भुलाया जा चुका है।

यह बात नहीं है कि श्री स० ही० वात्स्यायन अपनी पीढ़ी की सभी अच्छी प्रतिभाओं को समझ सके हों। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शङ्कर शैलेन्द्र की प्रतिभाएं विषय-वस्तु के अलावा टेक्नीक की दृष्टि से भी कम महत्त्व की नहीं हैं; एक और बहुत महत्त्वपूर्ण कवि त्रिलोचन शास्त्री हैं। ये नाम मैंने इसलिए गिनाये ताकि दो बातों की तरफ ध्यान जाय; एक यह कि जिसे प्रयोगवादी कविता कहा जाता है उसका बहुत बड़ा हिस्सा प्रगतिशील कवियों की देन है। दोयम यह कि 'प्रतीक' या उपरोक्त कविता-संग्रहों के बाहर जो नये काव्य-शिल्पी हैं उनको लिये बिना प्रयोगशील साहित्य की बहस अधूरी रहेगी।

प्रयोग की जो व्याख्या अज्ञेय जी ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में दी है वह महत्त्वपूर्ण है। प्रयोग है आत्म-सत्य का अन्वेषण (कलाकार के आत्म-सत्य का)। प्रयोग विषय-वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से फलप्रद होता है और अन्वेषण में प्रयोग के साधन (स्वयं अन्वेषण) को जानना भी शामिल है, इस प्रयोग में साधारणीकरण की मौलिक आवश्यकता है।

इस व्याख्या से मैं नहीं समझता कि किसी को आपत्ति हो सकती है। कलाकार का धंधा ही वस्तु और शिल्प के प्रयोग से कलात्मक सत्य के यथार्थ को पाना है। प्रयोग इसी धंधे का नाम है।

फिर 'प्रयोगवाद' का हल्ला किसलिए है ?

जी !

मैं अगर दो शब्दों का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा। प्रयोग और 'प्रयोग'। प्रयोग, जैसा कि अज्ञेय जी ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आये हैं। 'प्रयोग' के अन्तर्गत मेरा निवेदन यह है कि वह रुझान है जो उपरोक्त दो कविता-संग्रहों और आम तौर से 'प्रतीक' की कविताओं में पाया जायगा, और वह हिन्दी में नई आज की चीज है। यह चीज योरप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में पैदा हुई; पहले विश्व-युद्ध के आस-पास परवान चढ़ी और अब अमरीका को छोड़कर अन्य जगहों में कमजोर पड़ गई है। उर्दू में भी यह चीज आई थी मगर मजाज, सरदार, साहिर, मखदूम, कैफी और जोश की कविताओं ने उसे बिलकुल दबा दिया। इस रुझान में 'सिम्बो लिज्म' (प्रतीकवाद) और 'फॉर्मेलिज्म' (रूप-प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएं हैं। दुनिया के साहित्य (विशेषकर काव्य) और कला पर इसका जबरदस्त असर हुआ है, अच्छा और बुरा दोनों तरह का। योरप में ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके। हिन्दी में इसका युग आना बाकी था, सो आया। इसने शिल्प और प्रकार में अद्भुत सम्भावनाओं, ललित कलाओं के आपसी आन्तरिक सम्बन्ध और कलाकार के दायित्व की एकनिष्ठा पर जोर दिया। छन्दों में बोल-चाल की बोलियों और नाटकीय तत्त्व का समावेश करके कला-वस्तु को पहले से कहीं अधिक मार्मिक ढंग से उजागर करने की अद्भुत और अपार सम्भावनाएं उपस्थित की। कलाकार को अपने क्षेत्र में अगलों की तुलना में आश्चर्यजनक मुक्ति, साथ ही गम्भीरता दायित्व का अनुभव होता है, यह चीज 'प्रगतिशीलता' के 'विरुद्ध' नहीं, यह वाल्ट ह्विटमैन, कार्ल सैंडबर्ग और अर्न्स्ट टोलर के नाम लेने से ही स्पष्ट हो जायगा। नेरुदा ने ह्विटमैन और मायाकोव्स्की के प्रति

अपने ऋण को बहुत भावुक और उन्मुक्त स्वर से स्वीकार किया है। खुद मायाकोव्स्की की कलात्मक भूमिका को देखिये।

इन नामो का जिक्र करने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आत्म-सत्य का अन्वेषण सच्चा कलाकार अपनी अनुभूतियो मे नही उनके मूलो मे करता है—उन मूलो मे जो उसके समाज और संस्कृति की परम्परा मे बहुत गहरे चले गए है। उसको शक्ति, बल, प्राण इन्ही के गुम्फित वैभव से प्राप्त होता है। ऊपर के महान् नामो को सोचकर वह अमर दोहा जबान पर आ जाता है: उसकी वह पहली कड़ी—जिन ढूँढॉ तिन पाइयॉ गहरे पानी पैठ।

वह पानी कौन-सा है?

इस दोहे की दूसरी कड़ी भी याद आती है और इलियट और पाउड और उनके अनुयायी याद आ जाते है। इन्होने शिल्प मे बड़ी मेहनत की, बड़ा श्रम किया। अद्भुत इनकी पकड है छन्द, गति, लय, ताल की। अक्षर का 'मर्म' ये जानते है, मगर फिर भी जैसे कुछ नही जानते। ज्ञान-विज्ञान की नाना कलाओ के सागर में गोते लगाए है, पर जैसे खूबसूरत बहुत खूबसूरत सीपो के अलावा कोई मोती इन्हे न मिला हो। यहॉ मोती का जिक्र है, यो सीपो को भी हम प्यार करते है, क्योकि इन्ही मे से मोती भी निकल आता है।

मुझे बहुत आकृष्ट करते है ये कवि, इन्हीं की तरह पर कुछ काफी कम दर्जे पर श्री अज्ञेय, श्री मीरा नून राशिद (मीरानी नहीं) शुरू का फैज और डायलन टामस, जुकोफस्की, मैरियन मूर, पैचन वगैरह। मगर फिर लगता है कि जैसे ये कागज के फूल न होकर भी सच्चे फूल न हो। इनमे शायद वह कुछ है जिसके विरुद्ध मेरा स्वस्थ मन विद्रोह करता है, पर जिन्हे बड़े आश्चर्य से भी देखता है— शायद इसलिए कि इनमें जीवन के रोग-शोक, आत्मा की हाय, दैन्य, पराजय, भ्रम, कुहा, क्रूरता आदि उघारकर रख दिये गए हो। काश कि अक्सर यह काम सचेत रूप से कलाकार करता। शुक्र है कि हिन्दी के प्रयोगशील कवि प्रयोगशील विचार-धारा से विमुख भी है, दॉते की डिवाइन कॉमेडी के पाताल लोको के दृश्य अपने आत्म-सत्य के आइने मे नहीं झलकाते। कारण है हमारा समाज सब-कुछ होने पर भी नैतिक रूप से उतना जर्जर नही जितना योरप और अमरीका का पूँजीवादी समाज हो गया है। ये विशेषताएं अब हट रही हैं, नये कवि सफलताओ के उत्कर्ष की ओर देख रहे है। वह युग प्रतीक धड़क आप सरदार जाफरी की 'एशिया जाग उठा' मे साफ-साफ सुन सकते हैं। वही स्वर हमारे कितने ही प्रयोगशील प्रगतिशील कवियो की वाणी मे हैं, चाहे उतना मँजा हुआ, सशक्त नहीं, मगर साफ है वह भी। त्रिलोचन के नये सॉनेट, नरेशकुमार के 'समय देवता', मुक्तिबोध, नागार्जुन और केदार की कितनी ही मार्मिक और गुम्फित कविताओ के ओज मे वह तड़प है जो हमारे जीवन की सुन्दरतम प्रभात की अगुवानी कर रही है।

गिरिजाकुमार माथुर

काव्य में प्रयोगशीलता

पिछले तीन-चार वर्षों से हिन्दी मे प्रयोगशील कविता और अब इधर उसके एक नए रूप प्रयोग 'वाद' को लेकर एक तूफान-सा उठा हुआ है। प्रयोगशील कविता का अर्थ क्या है, काव्य मे प्रयोग और अन्वेषण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी, उनका प्रारम्भ और विकास कैसे हुआ, आज उनका क्या रूप है, प्रयोग 'साध्य हैं या साधन', और यदि साधन हैं तो किस चीज के, 'किसकी' अभिव्यक्ति के, हिन्दी-कविता की प्रगति मे वे साधक हैं या बाधक, अथवा प्रयोग का कोई स्वतन्त्र 'वाद' भी हो सकता है, क्या यह असलियत मे 'रूपवाद' की ही एक धारा नहीं है जो प्रयोग और प्रतीक की ओट मे प्रगतिशील कविता के विरोध मे खडी हुई है और रूप-प्रकार तथा माध्यम पर जोर देकर यथार्थ वस्तु-तत्त्व और जीवन की वास्तविकता के बीच दीवार खड़ा करना चाहती है या कि माध्यम, शैली, शिल्प के प्रयोग जीवनदर्शी काव्य के हित मे भी हैं—ऐसे कितने ही मौलिक प्रश्न उपस्थित होते है, जिनका स्पष्टीकरण आज की बहस के धुन्ध के बीच आवश्यक हो गया है।

यो तो छायावादी युग मे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के जमाने से काव्य मे अभिव्यंजना के नए माध्यमो की बात चल पडी थी, लेकिन प्रगतिशील युग आरम्भ होने के समय ही काव्यगत विषय-वस्तु, कला-शिल्प, रूप-प्रकार, शैली आदि पर साहित्यकार की दृष्टि अधिक सचेतन होकर गई। इसके साथ ही साहित्य मे पहली बार कवि और लेखक के दायित्व की समस्या सामने आई और इस बात पर मौलिक महत्त्व दिया गया कि कवि के कृतित्व से सामाजिक उत्तरदायित्व का कहाँ तक निर्वाह है। साहित्यकार की रचना किस सामाजिक पीठिका पर खडी होती है, उसकी मूल प्रेरणा या उद्दीपिका अर्थात् विषय वस्तु क्या है, उसके उपकरण कौन-से है, और आस-पास के जीवन से उसे क्या चेतना प्राप्त हुई है—इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो की विवेचना होने लगी। आधुनिक युग के भौतिक विकास के कारण ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति हुई उसके प्रभाव हमारे जीवन की परिधि मे तेजी से पड़ रहे थे। सन् पैंतीस तक साम्राज्यवादी व्यवस्था हमारे जीवन पर पूरी तरह अपना शिकंजा कस चुकी थी, उसके हाथो ज्ञान-विज्ञान के साधनो का जो उपयोग हुआ उसकी गहरी विषमता, जटिलता और अन्तर्विरोध हमारे समाज की जड़ो तक समाकर अब अधिक स्पष्ट होकर सतह पर आने लगे थे। इस नई सामाजिक स्थिति ने नए प्रकार की समस्याओं और मानसिक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। साहित्य मे भी यह संघर्ष और अन्तर्विरोध अनिवार्यतः स्पष्ट हुआ। छायावाद ने भावाभिव्यक्ति के नए माध्यम प्राप्त करने के लिए पिछली रूढ़ियो से विद्रोह कर नई दिशाओं की ओर जाने की चेष्टा की थी। लेकिन उसके वस्तु-तत्त्व मे यथार्थ जीवन से सामीप्य न होने के कारण तथा नवीन सत्य समेटने की असमर्थता के कारण शैली और रूप-प्रकार के यह प्रयोग—जो शब्द और अर्थ-चमत्कार तक ही सीमित थे—छायावादी काव्य को बहुत देर तक जिन्दा न रख सके। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आकर प्रगतिशील कविता का उदय हुआ।

लेकिन कोई भी ऐतिहासिक मोड शून्य से जन्म नहीं लेता। नवीन पुराने की ही पीठिका पर खड़ा होता है, बल्कि यो कहना चाहिए कि पुराने मे ही इस नवीन के तत्त्व निहित होते है। इतिहास का यही निरन्तर और अवश्यंभावी विकास है। छायावाद के पतन और प्रगतिवाद के

उदय का समय मोटे तौर से सन् पैंतीस छत्तीस माना जा सकता है, यद्यपि विकास के नैरन्तर्य मे किसी एक विशिष्ट बिन्दु पर आकर यह एलान नही किया जा सकता कि यहाँ तक पुराना था, अब यहाँ से नवीन शुरू है। इसीलिए छायावाद-युग मे माध्यम और शैली के जो नवीन प्रयत्न हुए थे उनको लेकर प्रगतिशील कविता आगे बढ़ी। आरम्भ मे नवोन्मेष के अनुरूप नवीन विषय-वस्तु की ओर तो कवियो का ध्यान गया, किन्तु रूप-प्रकार, भाषा और अभिव्यंजना का ढंग बहुत अंशो मे छायावादी ही रहा। छायावाद के साथ-ही-साथ एक आदर्शमूलक राष्ट्रीय धारा भी यत्किञ्चित् सामाजिक विषय-वस्तु लेकर चल रही थी, जिसके वस्तु-उपकरण और अभिव्यंजना छायावाद से कुछ हटकर थी। उसके कुछ तत्त्व भी प्रगति-काव्य के इस उदय-बिन्दु पर आकर मिले। तीसरी ओर वह स्थिति थी कि छायावादी शैली और व्यंजना ने अपनी एक नई रूढ़ि बनाई थी, जिनमे विभिन्न भावनाओ या परिवर्तित अवस्थाओ के प्रभावो का अधिक भेद नही किया जा सकता था और अभिव्यक्ति अधिकतर एक ही ढंग से सम्भव थी। इस शैलीगत और व्यंजनागत रूढि को तोड़ने के लिए विषय-वस्तु की नवीनता के साथ ही काव्य के माध्यम और रूप प्रकार पर अधिकाधिक प्रयोग करना बहुत आवश्यक समझा गया। प्रगतिशील युग के अभ्युदय के समय पहली स्थिति मे सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा की रचनाएं हो रही थी, दूसरी स्थिति मे थीं दिनकर, अंचल और 'भगवतीचरण वर्मा' की तथाकथित प्रगतिशील रचनाएं और तीसरी स्थिति मे थे रामविलास शर्मा, अज्ञेय और एक स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत पंक्तियो का लेखक भी।

यह प्रारम्भिक स्थिति सन् बयालीस तक रही। जीवन की जिन परिवर्तित परिस्थितियो के कारण प्रगति-काव्य का उदय हुआ था लगभग उन्ही कारणो से, उसी के साथ नवीन विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए नये प्रयोगो का प्रयत्न भी शुरू हुआ था। आरम्भ मे दोनो चीजे एक साथ मिलकर चली थी और प्रयोगशीलता प्रगतिशीलता का ही एक अंग समझी गई थी। अब प्रश्न यहाँ दो उठते है—एक तो यह कि यदि प्रयोग पहले भी हुए थे तो इन प्रयोगो मे आज ही क्या खास बात पैदा हो गई कि जिसके कारण उन्होने एक समस्या का रूप धारण कर लिया है, और वे कविता के धरातल पर प्रश्न-चिह्न बनकर खड़े हुए हैं, दूसरे यह कि आरम्भ मे यदि जीवन की नई प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद के साथ ही प्रयोगशीलता का भी जन्म हुआ था तो फिर क्यो ये दोनो एक-दूसरे के पूरक न होकर – यानी एक ही पट के दो पहलू न होकर—आज समानान्तर चलते नजर आते है, या कम-से-कम चलने या चलाए जाने के उद्योग मे है? सबसे पहले हम इन्ही प्रश्नो को लेते है।

प्रयोग सभी कालो मे होते आए है—यह कहकर ही आधुनिक प्रयोगो की सार्थकता सिद्ध नही की जा सकती। उनके सम्बन्ध मे आज हमे यह देखना भी जरूरी है कि किस सन्दर्भ मे वे किये जा रहे है और उनका लक्ष्य क्या है। फिर पहले जो प्रयोग हुए थे उनमे और आज के इन प्रयोगो मे परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा और आग्रह का अन्तर है। इसके अलावा कवि या लेखक विशेष का शैली-वैशिष्ट्य भी अपनी नवीनता की उद्भावना के अर्थ मे एक सीमा तक नया प्रयोग कहा जा सकता है। कालिदास द्वारा नए उपमानो का प्रयोग कालिदास के व्यक्तिगत शैली-वैशिष्ट्य की सीमा मे ही आता है। लेकिन आज हम सामूहिक रूप से प्रयोग इसलिए चाहते है कि हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियाँ बदल गई हैं, उनका प्रभाव हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के हर कोने को छूता है, उनकी जटिलता के कारण नई मानसिक प्रति-

गिरिजाकुमार माथुर

काव्य में प्रयोगशीलता

पिछले करीब दस वर्ष से हिन्दी मे प्रयोगशील कविता और अब इधर उसके एक नए रूप प्रयोग 'वाद' को लेकर एक तूफान-सा उठा हुआ है। प्रयोगशील कविता का अर्थ क्या है, काव्य मे प्रयोग और अन्वेषण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी, उनका प्रारम्भ और विकास कैसे हुआ, आज उनका क्या रूप है, प्रयोग 'साध्य है या साधन', और यदि साधन है तो किस चीज के, 'किसकी' अभिव्यक्ति के, हिन्दी-कविता की प्रगति मे वे साधक है या बाधक, अथवा प्रयोग का कोई स्वतन्त्र 'वाद' भी हो सकता है, क्या यह असलियत मे 'रूपवाद' की ही एक धारा नही है जो प्रयोग और प्रतीक की ओट मे प्रगतिशील कविता के विरोध मे खड़ी हुई है और रूप-प्रकार तथा माध्यम पर जोर देकर यथार्थ वस्तु-तत्त्व और जीवन की वास्तविकता के बीच दीवार बनाना चाहती है या कि माध्यम, शैली, शिल्प के प्रयोग जीवनदर्शी काव्य के हित मे भी है— ऐसे कितने ही मौलिक प्रश्न उपस्थित होते है, जिनका स्पष्टीकरण आज की बहुस के धुन्ध के बीच आवश्यक हो गया है।

यो तो छायावादी युग मे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के जमाने से काव्य मे अभिव्यंजना के नए माध्यमो की बात चल पड़ी थी, लेकिन प्रगतिशील युग आरम्भ होने के समय ही काव्यगत विषय-वस्तु, कला-शिल्प, रूप-प्रकार, शैली आदि पर साहित्यकार की दृष्टि अधिक सचेतन होकर गई। इसके साथ ही साहित्य मे पहली बार कवि और लेखक के दायित्व की समस्या सामने आई और इस बात पर मौलिक महत्त्व दिया गया कि कवि के कृतित्व से सामाजिक उत्तरदायित्व का कहाँ तक निर्वाह है। साहित्यकार की रचना किस सामाजिक पीठिका पर खड़ी होती है, उसकी मूल प्रेरणा या उद्दीपिका अर्थात् विषय वस्तु क्या है, उसके उपकरण कौन-से है, और आस-पास के जीवन से उसे क्या चेतना प्राप्त हुई है—इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो की विवेचना होने लगी। आधुनिक युग के भौतिक विकास के कारण ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति हुई उसके प्रभाव हमारे जीवन की परिधि मे तेजी से पड़ रहे थे। सन् पैतीस तक साम्राज्यवादी व्यवस्था हमारे जीवन पर पूरी तरह अपना शिकंजा कस चुकी थी, उसके हाथो ज्ञान-विज्ञान के साधनो का जो उपयोग हुआ उसकी गहरी विषमता, जटिलता और अन्तर्विरोध हमारे समाज की जड़ो तक समाकर अब अधिक स्पष्ट होकर सतह पर आने लगे थे। इस नई सामाजिक स्थिति ने नए प्रकार की समस्याओ और मानसिक प्रतिक्रियाओ को जन्म दिया। साहित्य मे भी यह संघर्ष और अन्तर्विरोध अनिवार्यतः स्पष्ट हुआ। छायावाद ने भावाभिव्यक्ति के नए माध्यम प्राप्त करने के लिए पिछली रूढ़ियो से विद्रोह कर नई दिशाओ की ओर जाने की चेष्टा की थी। लेकिन उसके वस्तु-तत्त्व मे यथार्थ जीवन से सामीप्य न होने के कारण तथा नवीन सत्य समेटने की असमर्थता के कारण शैली और रूप-प्रकार के यह प्रयोग—जो शब्द और अर्थ-चमत्कार तक ही सीमित थे—छायावादी काव्य को बहुत देर तक जिन्दा न रख सके। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आकर प्रगतिशील कविता का उदय हुआ।

लेकिन कोई भी ऐतिहासिक मोड शून्य मे जन्म नहीं लेता। नवीन पुराने की ही पीठिका पर खड़ा होता है, बल्कि यो कहना चाहिए कि पुराने मे ही इस नवीन के तत्त्व निहित होते है। इतिहास का यही निरन्तर और अवश्यंभावी विकास है। छायावाद के पतन और प्रगतिवाद के

उदय का समय मोटे तौर से सन् पैंतीस छत्तीस माना जा सकता है, यद्यपि विकास के नैरन्तर्य में किसी एक विशिष्ट बिन्दु पर आकर यह एलान नहीं किया जा सकता कि यहाँ तक पुराना था, अब यहाँ से नवीन शुरू है। इसीलिए छायावाद-युग में माध्यम और शैली के जो नवीन प्रयत्न हुए थे उनको लेकर प्रगतिशील कविता आगे बढ़ी। आरम्भ में नवोन्मेष के अनुरूप नवीन विषय-वस्तु की ओर तो कवियों का ध्यान गया, किन्तु रूप-प्रकार, भाषा और अभिव्यंजना का ढंग बहुत अंशों में छायावादी ही रहा। छायावाद के साथ-ही-साथ एक आदर्शमूलक राष्ट्रीय धारा भी यत्किञ्चित् सामाजिक विषय-वस्तु लेकर चल रही थी, जिसके वस्तु-उपकरण और अभिव्यंजना छायावाद से कुछ हटकर थी। उसके कुछ तत्त्व भी प्रगति-काव्य के इस उदय-बिन्दु पर आकर मिले। तीसरी ओर वह स्थिति थी कि छायावादी शैली और व्यंजना ने अपनी एक नई रूढ़ि बनाई थी, जिनमें विभिन्न भावनाओं या परिवर्तित अवस्थाओं के प्रभावों का अधिक भेद नहीं किया जा सकता था और अभिव्यक्ति अधिकतर एक ही ढंग से सम्भव थी। इस शैलीगत और व्यंजनागत रूढ़ि को तोड़ने के लिए विषय-वस्तु की नवीनता के साथ ही काव्य के माध्यम और रूप प्रकार पर अधिकाधिक प्रयोग करना बहुत आवश्यक समझा गया। प्रगतिशील युग के अभ्युदय के समय पहली स्थिति में सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा की रचनाएं हो रही थीं, दूसरी स्थिति में थी दिनकर, अंचल और 'भगवतीचरण वर्मा' की तथाकथित प्रगतिशील रचनाएं और तीसरी स्थिति में थे रामविलास शर्मा, अज्ञेय और एक स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी।

यह प्रारम्भिक स्थिति सन् बयालीस तक रही। जीवन की जिन परिवर्तित परिस्थितियों के कारण प्रगति-काव्य का उदय हुआ था लगभग उन्हीं कारणों से, उसी के साथ नवीन विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए नये प्रयोगों का प्रयत्न भी शुरू हुआ था। आरम्भ में दोनों चीजें एक साथ मिलकर चली थीं और प्रयोगशीलता प्रगतिशीलता का ही एक अंग समझी गई थी। अब प्रश्न यहाँ दो उठते हैं—एक तो यह कि यदि प्रयोग पहले भी हुए थे तो इन प्रयोगों में आज ही क्या खास बात पैदा हो गई कि जिसके कारण उन्होंने एक समस्या का रूप धारण कर लिया है, और वे कविता के धरातल पर प्रश्न-चिह्न बनकर खड़े हुए हैं, दूसरे यह कि आरम्भ में यदि जीवन की नई प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रगतिवाद के साथ ही प्रयोगशीलता का भी जन्म हुआ था तो फिर क्यों ये दोनों एक-दूसरे के पूरक न होकर – यानी एक ही पट के दो पहलू न होकर—आज समानान्तर चलते नजर आते हैं, या कम-से-कम चलने या चलाए जाने के उद्योग में है? सबसे पहले हम इन्हीं प्रश्नों को लेते हैं।

प्रयोग सभी कालों में होते आए हैं—यह कहकर ही आधुनिक प्रयोगों की सार्थकता सिद्ध नहीं की जा सकती। उनके सम्बन्ध में आज हमें यह देखना भी जरूरी है कि किस सन्दर्भ में वे किये जा रहे हैं और उनका लक्ष्य क्या है। फिर पहले जो प्रयोग हुए थे उनमें और आज के इन प्रयोगों में परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा और आग्रह का अन्तर है। इसके अलावा कवि या लेखक विशेष का शैली-वैशिष्ट्य भी अपनी नवीनता की उद्भावना के अर्थ में एक सीमा तक नया प्रयोग कहा जा सकता है। कालिदास द्वारा नए उपमानों का प्रयोग कालिदास के व्यक्तिगत शैली-वैशिष्ट्य की सीमा में ही आता है। लेकिन आज हम सामूहिक रूप से प्रयोग इसलिए चाहते हैं कि हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियाँ बदल गई हैं, उनका प्रसार हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के हर कोने को छूता है, उनकी जटिलता के कारण नई मानसिक प्रति-

क्रियाएं हुई हैं, नए सम्बन्ध स्थापित हुए हैं, नवीन समस्याएं पैदा हुई हैं और उनके समाधान के लिए संघर्ष। इसलिए पहली बात तो इस नए सत्य, नई विषय-वस्तु की है। दूसरी चीज यह है कि अभिव्यक्ति के पुराने माध्यम—छन्द, उपमान, ध्वनि, रंग, प्रकारादि—सभी मिट चुके हैं, उनके रंग उड़ चुके हैं, निश्चय ही उनके द्वारा नवीन वास्तविकता से उत्प्रेरित भावों की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। तीसरी ओर भाषा की भी बात है, जो प्रेषण और मूर्तीकरण का माध्यम है। प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषा की शब्द-रचना और पद विन्यासों का अर्थ संकेत तथा छवि-संकेत भी सीमित हो गया है। उसके भी पुनःसंस्कार की आवश्यकता है। इन तीनों के सामंजस्य से ही आगे बढ़ना प्रयोगों का लक्ष्य है। चूँकि भाषा और माध्यम के प्रयोगों का प्रश्न मूल वस्तु-तत्त्व के ऊपरी परिधान का प्रश्न है, और उनसे इनका गहरा सम्बन्ध है इसलिए पहले हम भाषा और माध्यम का विवेचन करके उनके मूल तत्त्व तक जायंगे।

यह ठीक है कि प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषा के शब्दों का अर्थ एक परम्परा में बँध चुका है, और उसके द्वारा नई व्यापक वास्तविकता का अर्थ-संकेत पूर्णतया सम्भव नहीं, और यह भी ठीक है कि हमारी साहित्यिक भाषा इन परिस्थितियों के तीव्र परिवर्तन के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकी। इसीलिए हम देखते हैं कि प्रतिष्ठित भाषा के विस्तार के लिए आज कृत्रिम प्रयत्न भी हो रहे हैं, यद्यपि कोष बनाने से भाषा नहीं बनती। लेकिन नई वास्तविकता ने अपनी भाषा को समाज में जन्म ही न दिया हो, ऐसी बात नहीं है। जनता इन नई परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए, उनसे संघर्ष करते हुए अपनी भाषा बनाती गई है, जिसको अंगीकृत करके साहित्यिक भाषा को नई स्फूर्ति दी जा सकती है। भाषा में व्यापक अर्थ भरने का कार्य इसी तरह सम्भव हो सकता है, अबूझ प्रयोगों द्वारा नहीं। और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा में व्यापकता तभी पूरी तरह आ सकती है जब उसके द्वारा अभिव्यजित विचार भी व्यापक हो—व्यापक-सत्य हो और भाषा का आधार भी व्यापक हो। भाषा को रूढ़ार्थों से निकालना जरूर है, पर वह तभी सम्भव है जब उसे जन-भाषा की ओर उन्मुख करके साहित्यिक भाषा का उसके साथ गठबन्धन किया जाय। प्रयोगों के लिए भाषा का प्रश्न यहाँ तक ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है, लेकिन वह उसका एक-मात्र लक्ष्य नहीं हो सकता। वरना उसका यही मतलब होगा कि प्रयोगों का कारण केवल भाषा का पुरानापन ही है, जिसके कारण प्रयोग आवश्यक हुए हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। भाषा का प्रश्न वह जिस चीज को वेष्टित करती है उसके साथ जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रयोगों का उद्देश्य केवल ऊपरी आवरण को ही बदल देना नहीं है। और न वे रूप-विधान के परिवर्तनों तक ही सीमित हैं। प्रयोगों के सामने मुख्य समस्या भाषा और रूप-विधान की तो है ही, सबसे जरूरी वस्तु-तत्त्व की भी है। इन तीनों का उसे बराबर ध्यान रखना है। यदि इनमें से केवल भाषा और माध्यम के प्रकारों पर ही ध्यान रखा गया तो प्रयोग लक्ष्य-च्युत हो जायगा और वह अपने प्रधान उद्देश्य यानी नवीन सत्य की अभिव्यक्ति से हटकर निरर्थक हो जायगा। वह कुछ ऐसी ही सनक होगी जैसे कोई शख्स फावड़ा-कुदाली लेकर जो सामने आये उसे खोदना शुरू कर दे, बिना यह सोचे-विचारे कि आखिर वह क्यों यह धरती खोद रहा है, उसका मतलब क्या है। फिर उसके पास सिवा इसके कोई उत्तर न होगा कि वह 'खोदने' के लिए खोद रहा है, 'प्रयोग' करने के लिए प्रयोग कर रहा है, यानी वह प्रयोग 'वादी' है, 'कला कला के लिए' के अर्थ-हीन सिद्धान्त में विश्वास रखता है और सबसे ऊपर वह एक

उच्छृंखल, दिशा-हीन, अराजक व्यक्तिवादी है, क्योंकि वह व्यक्ति और उसके व्यक्तिगत कार्यों को सर्वोपरि समझता है। प्रयोग एक गम्भीर समस्या उत्पन्न करते हैं यदि उनका उद्देश्य ऐसा हो या वे ऐसी मानसिक स्थिति को परिलक्षित करें। नवीन विषय-वस्तु का समावेश हुए बिना माध्यम के यह प्रयोग बहुत जरूरी होते हुए भी उपर्युक्त 'प्रयोगवाद' व 'व्यक्तिवाद' ही कहलायगे, जो नवीन प्रयोगो का मूल उद्देश्य कभी नहीं था।

इसलिए अब हमे प्रयोगो के पहले और मुख्य तत्व का विश्लेषण करना होगा और देखना होगा कि वह विषय-वस्तु, वह नवीन वास्तविकता क्या है जिसने नई चेतनाओं को जन्म दिया, और जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग आवश्यक हुए है। और जिनके माध्यम से ही वे निरर्थक 'प्रयोगवादिता' या असामाजिक 'व्यक्तिवादिता' के हथियार न बनकर वास्तविक काव्य-प्रगति मे सहायक होगे और अपना सामाजिक दायित्व भी निभा सकेगे।

प्रयोगो का भी कोई सामाजिक दायित्व हो सकता है? (बड़ी मुश्किल से बात है!) इस बात को अधिक स्पष्ट करने की जरूरत है। यह सभी ने स्वीकार किया है कि जीवन की नवीन परिस्थितियो के कारण नवीन विषय-वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति के लिए नये प्रयोगो की आवश्यकता हुई। इन नवीन परिस्थितियो का अर्थ है समाज की नई परिस्थितियाँ—'व्यक्ति' भी इसमे अनिवार्यतः शामिल है—और उनमे उत्पन्न नये अनुभव, सम्बन्ध, मानसिक प्रतिक्रियाए, सामाजिक समस्याएं और उनके समाधान-यत्न। इन सबकी अभिव्यक्ति के लिए हुई प्रयोगो की जरूरत। अब यदि प्रयोग सामाजिकता के इस नवीन सत्य को उद्घाटित और अभिव्यजित नहीं करते—अथवा उसे छिपाते या उसकी अभिव्यक्ति के बीच व्यवधान बनते है—तो प्रयोग अपने सामाजिक दायित्व को न निभाकर असामाजिक या अराजक होंगे, यह साफ है। प्रयोगो का यही दायित्व है। अब इस दायित्व की आधार-भूमि, नवीन व्यापक सत्य को हमे देखना है जो विषय-वस्तु के रूप मे प्रयोग द्वारा प्रेषित और निवेदित होता है।

आज का 'व्यापक सत्य' हमारे आज के जीवन की वह परिस्थितियाँ है जो ऐतिहासिक विकास की पूँजीवादी अवस्था से उत्पन्न हुई हैं और जो हमारे समस्त क्रिया-कलापो को आबद्ध तथा शासित कर रही हैं। इन परिस्थितियो ने नई समस्याओ को जन्म दिया है और उनकी विषमता ने जीवन को जटिल बना दिया है। जीवन का मतलब केवल 'बाह्य' या दैहिक जीवन ही नही है। वह तो है ही, उसके साथ ही हमारा मानसिक जीवन भी है, जिस पर इस समस्त वास्तविकता का प्रभाव पड़ता है। हमारे अनुभव, विचार और भावना का जगत् इसी वास्तविकता से, सामाजिक जीवन से प्रभावित, परिवर्तित तथा विकसित होता है, और अपनी प्रक्रिया-स्वरूप इन परिस्थितियो को सर्वजनानुकूल बनाने के लिए तैयार होता है। इसलिए बाह्य वास्तविकता या 'व्यापक सत्य' केवल निर्जीव 'वस्तु-तथ्य' ही नहीं है जैसा कि कुछ का विचार है, जिसे वे निरा 'वस्तु-तथ्य' कहकर यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि काव्य और काव्यगत प्रयोगो मे उसका स्थान नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे हम अज्ञेय जी की उस व्याख्या का जिक्र जरूर करेंगे जो उन्होने काव्य के सम्बन्ध मे दी है। लिखा है:

"निरे 'तथ्य' और 'सत्य' में या कह लीजिए 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' मे यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है, बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य मे स्थान नहीं पा सकती।"

(दूसरा सप्तक : भूमिका)

पहले तो 'तथ्य' और 'सत्य' का यह भेद कृत्रिम है और उचित नहीं। दूसरे 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में जो भेद दिखाया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि बाह्य वास्तविकता यानी वस्तु-सत्य से व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध नहीं है तो वह 'सत्य' नहीं होगा, बल्कि सिर्फ 'तथ्य' के रूप में ही रहेगा। अर्थात् बाह्य वास्तविकता को सत्य होने के लिए यह जरूरी है कि वह 'व्यक्ति' के लिए सत्य हो तभी वह 'सत्य' हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि एक व्यक्ति के लिए वह सत्य नहीं तो वह सत्य नहीं हो सकती चाहे अन्य सभी के लिए सत्य हो। यह तर्क असंगत है।

मान लीजिए कि सूरज निकलना एक 'तथ्य' है—बाह्य वास्तविकता है, लेकिन कोई व्यक्ति आँखें बन्द ही किये रहे और कहे कि नहीं सूरज नहीं निकला, क्योंकि मुझे नहीं दीखता—(चाहे उससे हजारों और कहते रहें कि भई सूरज निकला है) तो क्या सूरज निकलना सत्य नहीं होगा। जरूर होगा, तथ्य भी और सत्य भी। इसलिए बाह्य वास्तविकता को, जब तक वह व्यक्ति के लिए सत्य न हो निरा 'वस्तु-सत्य' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता, न उससे मुँह ही फेरा जा सकता है, और इस एकाकी 'व्यक्ति-सत्य' को आज की समूची प्रयोगशीलता पर घटित करके उसे अनुचित या ग़लत भी नहीं कहा जा सकता।

हमारी मौजूदा वास्तविकता या व्यापक सत्य अत्यन्त सजीव है। इस बाह्य वास्तविकता या वस्तु-तथ्य के सैकड़ों रूप अनगिन सूत्रों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस कारण उन्हें अलग-अलग वस्तुओं या हवा-बन्द टुकड़ों के रूप में नहीं देखा जा सकता, उन्हें समस्त जीवन के सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है।

यही प्रयोगशील कविता का साध्य सत्य है, और प्रयोग इसी वास्तविकता के हजार पहलुओं को हजार प्रभावोत्पादक, रसमय ढंग से कहने के साधन हैं। रसमय इसलिए कि 'व्यापक सत्य' और समाज पर उसके अनगिन प्रभावों के खंड-अनुभवों को रस-परिपाक द्वारा पाठक तक पहुँचायें, कवि और सर्वजन के बीच विभिन्न भावों के साधारणीकरण का यत्न करें। इसलिए प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड-अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना, जिससे 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का ('व्यक्ति-सत्य' को व्यापक करने का नहीं) सर्व बोधगम्य प्रेषण (Communication) सम्भव हो सके। वे कविता में प्रगतिशील सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए सरल, स्वाभाविक और रसानुभूतिदायक माध्यमों के अन्वेषण में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जनता की भाषा को अधिकाधिक अपनाकर उसके विकास और प्रामाणीकरण (Standardization) के पथ में अग्रसर हो सकते हैं, उनके द्वारा सर्वसाधारण जन की समस्याओं पर अधिक रोचक, अधिक व्यापक उपमान ढूँढे जा सकते हैं, नए, उपयुक्त, समझ में आने वाली गति के छन्द, संगीतादि की सृष्टि की जा सकती है, लोक-गीतों के प्रकारों को अपनाया जा सकता है, अन्ततः न केवल संवेदनाओं का बल्कि भाषा, रूप-प्रकार, शैली, अभिव्यंजना सभी के नये संस्कार के साथ एक युग-परिवर्तन (रेनेसाँ) उपस्थित किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि प्रयोगों का नवीन वैभव, नया साधन, व्यक्ति या वर्ग-विशेष की असामाजिक भावनाओं, कुण्ठाओं या यौन-अभिव्यंजनाओं तक उलझे उपमानों या दुरूह भाषा द्वारा सीमित करके 'कुछ' के आनन्द का सीमित साधन नहीं बनाया जा सकता। माध्यम और शैली की नई स्वरूप-

योजना को सामाजिक तत्त्व, सार्वजनीन आशय, स्वस्थ स्मान और बहुजन की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ही अग्रसर होना है। यदि नए कवि को मानव-समाज के विकास के साथ चरण मिलाकर चलना है और युग को वाणी देने का युगीन दायित्व निभाना है तो यही मार्ग उसे अपनाना पड़ेगा, अन्यथा पहले मार्ग पर चलकर वह वास्तविकता और युग-सत्य से अपना नाता तोड़ लेगा और उन प्रतिगामी शक्तियों के साथ मिलकर पीछे ही पैर धरेगा जो मानव-प्रगति के पथ में आज बाधक हैं।

इन सैद्धान्तिक प्रश्नों पर विचार के सन्दर्भ में अब हम आज तक की प्रयोगशील कविता का सक्षेप में विवेचन करेंगे। हमें यह मालूम है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगों के उदय-बिन्दु निराला जी थे। उन्होंने छायावादी आशय की सीमाओं में ही अभिव्यक्ति के नये माध्यमों की ओर चरण उठाया था। माध्यम की ओर इतना मौलिक प्रयास छायावाद के किसी अन्य कवि में नहीं। इसके बाद पंत जी की 'युगवाणी' के समय से प्रगति-काव्य का जो अभ्युदय हुआ उसी के बाद नवीन विषय-वस्तु और निराला जी के दिशा-संकेत से माध्यम की ओर कवियों का ध्यान गया। 'रूपाभ' के प्रकाशन-काल में लगभग सबसे पहले रामविलास शर्मा की रचनाएं छन्द और अभि व्यंजना के नए प्रयोग लेकर आई थीं। रामविलास जी के प्रयोगों में यद्यपि मुक्त-छन्द की गति, विराम और अन्तर्लय का निर्वाह नहीं मिलता, किन्तु उनके कुछ अन्य प्रयोग प्रारम्भिक होते हुए भी इतने पुष्ट थे कि यदि वे आगे बढे होते तो निश्चय ही प्रयोग-परम्परा के बीच उन्होंने अपना चिह्न छोड़ा होता। इसी काल में नरेन्द्र शर्मा ने सामाजिक विषय वस्तु को लेकर अपने असफल प्रयत्न आरम्भ किए थे। और सबकी देखा-देखी अचल ने भी।

सन् १६३७ के आस-पास से लेकर आगामी पाँच वर्षों में मौजूदा प्रयोगशील कविता पनपी। उस समय तक कितने ही कवि माध्यम के नए प्रयोग करने लगे थे, जिनका लक्ष्य था अभिव्यक्ति की पुरानी प्रणालियों से काव्य को बाहर लाना। ऐसी स्थिति में आकर सन् १६४३ में अज्ञेय जी के सम्पादन में पहले 'तार-सप्तक' का प्रकाशन हुआ। अभिव्यक्ति का ढंग नया था, विषय वस्तु भी एक सीमा तक नई, और यह प्रयोगशीलता प्रगतिशील काव्य से अलग भी नहीं थी। 'तार-सप्तक' में सबसे बड़ा तत्त्व सामाजिक विषय-वस्तु से अधिक माध्यम और शैली के प्रति विद्रोह मिलता है। रूढियों से विद्रोह स्वयं अपने-आप में स्वस्थ चिह्न है पर 'टेकनीक' के प्रति विद्रोह का इसी हद तक समर्थन हो सकता है। क्योंकि उसे इस सीमा से आगे बढना होता है, नवीन आशय की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक रूप से अग्रसर होना होता है। 'तार-सप्तक' में इस दिशा की भी सूचना मिलती है, और 'तार-सप्तक' के एकाध कवि इस ओर सचेतन होकर बढे भी थे।

'तार-सप्तक' के बाद पिछले करीब नौ-दस वर्षों में जो प्रयोग हुए हैं उनमें से एक ओर तो वे हैं जिन्होंने प्रगतिशील विषय-वस्तु की अभिव्यंजना के लिए माध्यमों के नए प्रयोग अपनाए, दूसरे (लेकिन बहुत कम) वे हैं जिन्होंने इन्हें केवल अपनी मानसिक समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिए ही सीमित रहने दिया है, और सचेष्ट रूप से सामाजिक विषय-वस्तु का समावेश नहीं होने दिया। प्रथम श्रेणी में 'तार-सप्तक' के तुरन्त बाद आए थे रागेय राघव, शमशेर, केदार, चन्द्रभूषण, त्रिलोचन शास्त्री। सुमन और नागार्जुन का नाम इनमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनमें सार्थक प्रयोग नाम की चीज का अभाव है। और नागार्जुन के अब तक के प्रयोग तो बहुत ही चिन्त्य हैं, उनमें विषय-वस्तु और उसका निर्वाह, छन्द, भाषा, शैली और व्यंग अभी तक

अपरिपक्व, रस-परिपाक विहीन, नगे और खोखले हैं। आदि से अन्त तक सीधी अभिधा-ही-अभिधा है, जो रसानुभूति देने मे असमर्थ है। उनमे गम्भीरता और परिष्कार की बहुत आवश्यकता है।

इस काल मे दूसरी ओर अज्ञेय जी के प्रयोगो का रूप और भी स्पष्ट होकर सामने आया है। उसके दृष्टिकोण या वस्तु-उपकरण का जिक्र न करके हम यहाँ माध्यम और शैली के प्रयोगो का ही जिक्र करेगे। अज्ञेय जी के प्रयोगो की भाषा और उनके प्रतीक पहले से अधिक जटिल और दुरूह हो गए है। उनका मुक्त छद अधिकाश मे शुरू से ही असफल रहा है। लेकिन केवल प्रयोग की दृष्टि से उनके कुछ उपमान, प्रकार और वातावरण काफी ताजे और पुष्ट हैं। ऐसी कविताओ मे 'कतकी पूनो', 'क्वार की बयार', 'कलगी बाजरे का', 'माघ-फागुन-चैत', 'पानी बरसा' आदि का जिक्र किये बिना हम नही रह सकते। अज्ञेय जी की ऐसी ही कुछ कविताओ को देखकर लगता है कि जहाँ कवि अपने से बाहर थोड़ा भी देखता है वहाँ उसकी अभिव्यंजना अधिक जीवन्त तथा मन को स्पर्श करने वाली होती है, लेकिन जहाँ वह अपनी अडिग मानसिक कुण्ठाओ मे ही घिर-कर रह जाता है तब प्रयोग अपने आस पास घूमकर केवल 'प्रयोग'-मात्र के लिए रह जाते है। ऐसा मेरा अब भी विश्वास है कि यदि अन्वेषण की इतनी निष्ठा, सूक्ष्म और पुष्ट प्रयोगो द्वारा अपनी एकाकी मान्यताओ के स्थान पर सार्वजनीन जीवन को कवि अपनी प्रेरणा का आधार बनाय तो निश्चय ही वे अपनी स्थायी देन हिन्दी-कविता को दे सकते है। पथ साफ होते हुए भी वे ऐसा क्यो नहीं करते, यह बात समझ मे आकर भी नही आती।

अब इधर की कुछ अत्यन्त नई प्रयोगशील कविता पर हम नजर डाले। 'तार-सप्तक' के ठीक नौ वर्ष बाद फिर अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित एक 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ है। लेकिन इसकी अधिकाश सामग्री कैशोर (एडोलेसेण्ट) और अपरिपक्व है, किसी की रचना मे ऐसा प्रमाण नही कि प्रयोगशील परम्परा आगे ही बढी है। लेकिन अधिकाश नयो के दावे बड़े-बड़े है और बचपन भरी अहम्मन्यता (जो इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स की ही सूचक है) से पूर्ण है, हालाँकि कुछ तथाकथित नयो का नयापन पिछले कुछ पुष्ट प्रयोगशील कवियो का स्पष्ट, यान्त्रिक अनुकरण ही है। प्रयोगशीलता और प्रगतिशीलता को एक बड़ा खतरा प्रयोग-'वादियो' से है, लेकिन एक छोटा खतरा ऐसे प्रगतिशील आलोचको से भी है जो 'साइन बोर्ड' वाली सतही मनोवृत्ति से कविता की श्रेष्ठता और हीनता आँकते है। ऐसा ही फतवा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'दूसरे सप्तक' मे प्रकाशित नरेश मेहता की कविता 'समय देवता' पर दिया है। उसकी सर्वश्रेष्ठता बतलाते हुए उन्होने कविता की उन पक्तियो को उद्धृत किया है जिनमे रूस और लेनिन का नाम आया है, बिना यह देखे कि कविता का 'एप्रोच' क्या है और उसमे कितने श्रेष्ठ या निम्न प्रयोग है। 'समय देवता' इस दृष्टि से बहुत निरर्थक रचना है। कविता की प्रगतिशीलता और श्रेष्ठता केवल कुछ नामो भर के आ जाने से ही नही हो सकती। प्रगतिशीलता तो समग्र जीवन को देखने, समझने और उसके सम्पूर्ण प्रभावो को आत्मसात् करके उसकी अभिव्यक्ति के साथ आगे बढ़ने की सम्पूर्ण दृष्टि है, जो मात्र नाम या वस्तु-परिगणन से अधिक गहरी, जीवन की छोटी-से-छोटी समस्याओ तक जाती है। मेरा विचार है कि हमे अपनी प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता के मान दण्डो मे परिवर्तन करना होगा और उन्हे अधिक गम्भीर, अधिक सम्पूर्ण दृष्टि से देखना होगा।

मूल्यांकन

नरेशकुमार मेहता

'अर्चना' का कवि

'निराला' जी सही मानो मे रोमाण्टिक कवि है। क्योंकि वे दूसरे छायावादियो की तरह अपनी ही व्यक्तिगत शैलियां या युग-विशेष के विशिष्ट अभिधानो, अलंकारो, रूपको मे बँधकर नही रहे। इसलिए उनका रोमाण्टिक तत्त्व अपनी अभिव्यक्ति के लिए सदा नई भाषा, नई शैली एवं नये प्रयोग खोजता हुआ आज 'अर्चना' की सृष्टि कर सका है। निराला का कवि प्रमुखतः इन तीन विभाजनो मे रखकर देखा जा सकता है :

(१) भाषा, (२) भाव, और (३) छन्द।

भाषा:—निराला की भाषा कोई सीमा नहीं जानती। उन्हे भावो की अभिव्यक्ति के लिए जब जिस शब्द की आवश्यकता हुई वह बोलियो, संस्कृत, उर्दू सब Stocks से लेना अच्छा लगा, इसलिए निराला के साहित्य में शब्दो का भण्डार है। संस्कृत-बहुल भाषी कवि ने ब्रज भाषा, या बोलियो के बहुत ही ठेठ प्रयोग भी किये है। कई गीत तत्सम सज्ञा तथा विशेषण के होने पर संस्कृत के पद लगते हैं, क्योंकि उनमे क्रियापद का लोप रहता है। कही पर 'अट नहीं रही है', 'बे-पर की बातें न पटेंगी'-जैसे प्रयोग भी साफ तरीके पर किये हुए मिलते हैं। 'अर्चना' मे सर्वनाम के बहु वचन से सम्बन्ध कारक का काम लिया गया है और यह हिन्दी की अभिव्यंजना-शैली को बढाता है। जैसे—'हिंस्र पशुओ भरी'।

भाव:—निराला जी उन 'प्यूरिटन' कवियो मे से नही हैं जिन्हे एक विशेष सौन्दर्य, या मुद्रा, क्षेत्र, परिस्थिति ही काव्य-प्रेरणा देती है। हिन्दी-जगत् उनकी इस व्यापकता को पहचानता ही है। 'बादल-राग,' 'जुही की कली', 'शक्ति-पूजा', 'कुकरमुत्ता' से लेकर 'अर्चना' तक आते-आते कवि भक्त-कवियो के सगीत या पद गाने लगता है।

छन्द:—छन्दो के जो दो भेद हैं 'मोटे रूप से' मात्रिक तथा वर्णिक, निराला जी ने इनका उपयोग तो किया ही है और हिन्दी वाले, अज्ञानी आलोचको द्वारा दिये गए 'केचुआ छन्द' को भी भूले नहीं होगे, जिसको शुरू करने का सेहरा भी इनके सिर पर ही बाँधा गया है। पर क्या निराला जी के वे 'केंचुआ छन्द' सचमुच ही क्या मछली के काँटे-जैसे ही हैं जो कि हमारे गलो मे अटकते हैं ? ये सभी छन्द थोड़ी-सी कठिनाई के बाद हमारी समझ मे आ जाते हैं कि जिनमे से कुछ मे उर्दू की बहर को टुकड़ों में रखा गया है या कभी गाने के खयाल से दो मात्राएं बढ़ा दी गई

हैं या घटा दी गई हैं। निराला के मुक्त-छन्द एक सुनिश्चित ताल, क्रम के संयोग में गुंथे हुए मिलेंगे। मैं उनकी चर्चा ही नहीं करता जो 'कनौजिया छन्द' मे 'दारागंजी रामायण' को दक्षिण भारत मे प्रचारार्थ छापते हैं। क्योंकि काव्य न तो ब्राह्मण है, न शूद्र। निराला ने ठुमरी, दादरा, खयाल, (द्रुत विलंबित) से अपने छन्दो को गढ़ा है। 'गीतिका' की भूमिका मे उस्तादों की गलेबाजी के कारण के 'मैथेमेटिकल' हो जाने पर जो रोष प्रकट किया है, उसी के फलस्वरूप उस संकलन में उन्होंने आरोहावरोहो के आधार पर स्वर-विस्तार तथा भाव-गाभीर्य को परिपुष्ट किया है। 'अर्चना' मे यह प्रभाव स्पष्ट रूप से उभरा है, जिसकी चर्चा आगे होगी।

'अर्चना' पर कुछ कहने के पूर्व की यह चर्चा थी। निराला छायावाद के प्रवर्तको में से हैं, फिर भी क्या कारण है कि आज वे दूसरे प्रवर्तको की भाँति चुप न होकर 'बेला' 'नये पत्ते' और 'अर्चना' लिखते रहे? ऐतिहासिक क्रमिकता मे छायावाद भी विद्रोही लगता है, 'सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह' या 'अन्तर का बाह्य के प्रति विद्रोह'—ये छायावाद-दर्शन के लिए सूत्र हमें दिये गए थे, पर यह सुन्दर बेल ड्राइंग-रूम के गमलो में जाकर सूख गई। क्योंकि धरती का सम्पर्क इस बेल को नहीं मिला। पंत जी की बौद्धिक चेतना ने युग को वाणी दी, 'ग्राम्या' को सँवारा, पर बुद्धि से तो कविता नहीं की जाती है न? कांग्रेस का 'जन-आन्दोलन' कलाकारो को किसी सीमा तक धोखा दे सका कि 'स्वतन्त्रता' (आजादी बनाम गुलामी) के बाद 'जन-जन' के लिए स्वर्ग स्थापित होगा। जिन कलाकारो के पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण था वे तो सन्'२५ मे त्याग द्वारा दिये गए ऐसे ही आश्वासनों का मूल्य पहचानते थे, पर जो 'मात्र-कवि' थे वे फिर से भटक गए।

निराला जी स्वयं से जूझ रहे थे। 'बंगाल का अकाल', 'शरणार्थी-समस्या', 'हिन्दू-मुसलिम-हत्याकाण्ड', 'तैलंगाना मे गोलियाँ' 'बलिया के किसान' जैसे सब-के-सब निराला के व्यक्तिगत जीवन मे घनीभूत हो उठे थे। उनके व्यक्तिगत जीवन के चारों ओर दरिद्रता और विषम परिस्थितियो की ऐसी कँटीली मेड़ लगी हुई थी (है, का भी प्रयोग किया जायगा) कि वे मूर्तिमान हिन्दुस्तान के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आये हैं। जैसे-जैसे कांग्रेस की नकाब उतरती गई हिन्दुस्तान की जनता वैसे-ही-वैसे निराश होती गई। मुझे क्षमा करें; हिन्दुस्तान जैसे एक बहुत बड़ा निराला हो, जो कि 'विक्षिप्त' 'भूखा' परन्तु अपनी सारी ऊँचाइयो के साथ घिरा है। कांग्रेस किस मुँह से जनता के पास पश्मीने की अचकन और सफेद टोपी पहने वोट लेने जा रही है, क्योंकि उस पर महाकवि पं० सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' के खून के आँसू, भूख, विक्षिप्तता लिपटी हुई है। जनता आज निराला है, और निराला ही वह जनता है जो कि 'अर्चना' के इन ११२ छन्दों मे फूटकर बिखरी है।

इस विषय-क्षेप के लिए क्षमा चाहूँगा, पर यह आवश्यक भी था, क्योंकि जिन परिस्थितियो में निराला के इस संग्रह का प्रणयन हुआ, मैं उनके बारे में लिख रहा हूँ; और आप इसके विषय में पढ रहे हैं, उनको साफ-साफ समझना भी साहित्य की एक प्रमुख माँग है।

'जीवन बिना अन्न के है विपन्नाव'

'अर्चना' की सारी भक्ति के बीच में यह पंक्ति हुकूमत की इस कुतुब-मीनार को चुनौती दे रही है।

'अर्चना' एकदम सरकारी तौर पर देखने पर हमे निराला की 'विनय-गीतिका' का संग्रह लगता है। निराला छायावादी कवि के स्थान पर भक्त कवि-से लगते हैं। पर क्या यह सच है?

आज के युग मे भक्ति-काव्य की सर्जना क्या सम्भव है ? नही, क्योकि प्रत्येक युग की एक विशेष माँग हुआ करती है। इसलिए 'अर्चना' के भक्ति-पदो मे भक्ति की तन्मयता नही, वरन् सच्चे कवि का आक्रोश है। इसलिए ये भक्ति-काव्य के अन्तर्गत नही है।

'अर्चना' मे प्रत्यूष-वेला की ज्योतिष्मती 'उषस्' का आह्वान है। आज का जीवन तिमिराच्छन्न हो रहा है और कवि आलोक के देवता की अर्चना कर रहा है कि 'हुई असित जीवन की सरिता' और इसीलिए 'नव जीवन का सूर्योदय हो।' अर्थ का अनर्थ कभी नहीं चाहूँगा इसलिए स्पष्ट कर दूँ कि कवि ने इस सूर्योदय को स्पष्ट नही किया है कि इस 'अरुण' तिमिर दारण मिहिर' से क्या अर्थ है ? क्या ये मात्र शब्द के लिए शब्द हैं, या फिर इनके पीछे कोई व्यंजना भी है? अन्य अर्थ की निष्पत्ति, कदाचित् कवि के साथ अन्याय हो, इसलिए हम इसमें कोई रूपक न खोजकर चित्र-मात्र मान लेगे।

इस संकलन की विशेषता जो देखने पर लगती है सहसा, वह है इसकी गेयता। निराला जी छन्द के प्रयोग के लिए अद्वितीय है ही, पर इस संकलन मे यह गेयता एक और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो गई है कि यह जन-गीतात्मकता के और करीब लगती है, जैसे यह गीत है :

गवना न करा।
खाली पैरो रास्ता न चला।
कँकरीली राहे न कटेंगी,
बेपर की बाते न पटेगी,
काली मेघनियाँ न फटेगी,
ऐसे-ऐसे तू डग न भरा।

हमारे सामने एक मधुर चित्र आ जाता है उस ग्राम्या का, जिसका द्विरागमन होने को है। और उसकी मुहावरेदार भाषा मे दरिद्रता, स्वय के कोमल होने की व्यजना एकदम साफ होने लगती हैं। बहुत कम शब्दों का प्रयोग करते हुए भी चित्र एकदम साफ कर देना निराला की उच्चता सिद्ध करती है। चित्र है :

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनो पाँव बन्धु !

'धँसकर' शब्द की ध्वनि स्पष्ट ही है। शास्त्रीय दृष्टि से 'स्मरण वेपथुश्च' का उदाहरण 'कँपते थे दोनों पाँव बन्धु' से लक्षित होता है।

इस संग्रह मे होली से सम्बन्धित कई गीत है, और जो अनुपम है। कई गीत तो रीतिकालीन मस्त कवियो की होली के चित्रो के साथ-साथ हमे वृन्दावन की वैष्णवी शैली का भी स्मरण कराते हैं :

राग-पराग-कपोल किये हैं
लाल-गुलाल अमोल लिये हैं,

गाये खग-कुल-कण्ठ गीत शत,
सङ्ग मृदङ्ग तरङ्ग-तीर-हत,
भंजन मनोरंजन-रत अविरत,
राग-राग को फलित किया री—
विकल अंग कल गगन-विहारी !
केशर की, कलि की पिचकारी।

पर होली के गीतो मे 'खेलूँगी कभी न होली' वाला गीत उन्हे जनता के बहुत करीब ले जाता है और ऐसे ही गीतो मे वे सर्वश्रेष्ठ लगने लगते है। 'फूटे हैं आमो मे बौर' होली के सारे गीतो मे सर्वोत्तम है, जिनमे रंग और रूप-चित्रो की कला निखरी हुई हमें मिलती है। अर्चना के बहुत-से ऐसे गीत हैं जो हमे बॉध लेते हैं, जिनकी भाषा की रवानी, अभिव्यंजना की सरल वक्रता, एक पंक्ति में इस मार्मिक परिस्थिति का चित्रण बताता है कि निराला गीतो के कला-कौशल मे कितने सिद्धहस्त हो गए हैं। उदाहरण के लिए कुछ गीतो की पहली पक्तियों को रूप, रंग, ध्वनि, परिस्थिति के हिसाब से देखिये:

(१) खेलूँगी कभी न होली
उससे जो नही हमजोली — रूप

(२) नयन नहाये
जबसे उसकी छवि मे रूप बहाये।— रंग

(३) अली गूँज चली द्रुम कुञ्जों — ध्वनि

(४) प्रिय के हाथ लगाये जागी
ऐसी मैं सो गई अभागी। — परिस्थिति

गीतों की कला को निराला जी ने जितना सशक्त बनाया है उतना हिन्दी मे दूसरे किसी ने नहीं किया है। 'अर्चना' मे अजीब-अजीब मनोभावो को सुन्दर, मुहावरेदार, संस्कृत-निष्ठ भाषा में प्रस्तुत किया गया है। एक बात जो विशेष ध्यान देने की है वह यह कि एक ही दिन मे कई-कई गीतो का प्रणयन किया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि रूप और भक्ति, ये दो ही प्रस्तुत संग्रह के प्रिय विषय हैं।

इस संग्रह के निर्माण में निराला जी के दारागंज मे एकान्त-निवास का बहुत बड़ा हाथ दिखाई देता है। धार्मिक वातावरण, भजन-कीर्त्तन का वायु-मण्डल, गगा-स्नान के लिए आई हुई धार्मिक जनता—इन सबका प्रभाव 'अर्चना' मे स्पष्ट है। अधिकतर गीतो में 'धर्म' उभरकर आया है, बल्कि एक गीत मे तो यह जोश दर्शनीय भी हो सकता है:

तू चला जब तक न तनकर,
धर्म का ध्वज कर न लेगा।

'पतित पावनी गंगे', 'भजन कर हरि के चरण मन', 'हरि का मन से गुण-गान करो' ऐसे ही गीत हैं जिनमें निराला का कवि दब जाता है।

निराला जी ने चलती हुई भजन की धुनें, दादरा, टुमरी की बंदिशें सब ही अपनाई हैं। जैसे :

वे कह जो गये कल आने को,
सखि, बीत गए कितने कल्पो ।
[धुन : बजरंग बली मेरी नाव चली]
हरि का मन से गुण-गान करो,
तुम और गुमान करो न करो ।

जिनकी नही मानी कान
रही उनकी भी जी की
[ठुमरी की बंदिश दूसरी पंक्ति में]

पर ये स्थल इतने कम हैं कि संकलन की पूर्णता मे अखरते नहीं हैं ।

निराला जी ने गीतो मे जितनी महान् Imageries दी है वे बतलाती हैं कि गीत में भी कवि की Sublimity संभव है ।

कैसे हुई हार, तेरी निराकार,
गगन के तारको बन्द हैं कुल हार ?
दुर्ग दुर्धर्ष यह तोड़ता है कौन ?
प्रश्न के पत्र, उत्तर प्रकृति है मौन;
पवन इङ्गित कर रहा है—निकल पार।
सलिल की उर्मियाँ हथेली मारकर
सरिता तुझे कह रही है कि कारगर
विपत से पार कर जब पकड़ पतवार ।

साड़ी के खिले मोर,
रेशम के हिले छोर — image

तरंगो टूटता सिन्धु—
शत संहत आवर्त-विवर्तों
जल पछाड़ खाता है पर्तो,
उठते हैं पहाड़ फिर गर्तो
धँसते हैं, मारण-रजनी है ।

भक्तो के आशुतोष,
नभ-नभ के तारे हैं ।

तुमने जो गही बाँह,
वारिद की हुई छाँह,

अंधकार के दृढ कर
बँधा जा रहा जर्जर
तन उन्मीलन निःस्वर,
मन्द्र-चरण मरण ताल ।

सुरतरु वर शाखा
खिली पुष्प-भाषा । — आदि

निराला जी इधर सरल होते जा रहे हैं जो कि उनकी प्रगति का चिह्न है। हिन्दी-काव्य की भाषा विशेषकर गीतो की, इधर जितनी निराला जी ने माँजी है वह उन्हे उपयुक्त युग-प्रवर्तक के स्थान पर बिठाती है।

दो-तीन गीत तो हमे सूरदास की गोपियों का स्मरण कराते हैं जब वे उद्धव से कृष्ण की शिकायत करती हैं : 'हरिण नयन हरि ने छीने हैं'—

कुछ गीतों मे जो नैराश्य, या अधिक स्पष्ट कहूँ तो पराजय, का स्वर सुनाई पड़ता है, वह जैसे हम सब का स्वर हो। जिसका मुख्य कारण यह है कि जिस समाज के पास मार्क्सवादी सामाजिक एवं वैज्ञानिक दर्शन नही हुआ करता उस जाति (या व्यक्ति) का विद्रोह या रूप प्रति-क्रियात्मक होने लगता है और तब धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है; एक संज्ञा (शरीरी या अशरीरी) ही नियंता है की चेतना का बोध करवाया जाता है। इस प्रकार का बोध करवाने मे राजनीति (पूँजीवादी) का हाथ हुआ करता है। इसलिए 'अर्चना' मे निराला के दूसरे रूप का भी जो दर्शन होता है वह केवल उनका ही नहीं है हमारा रूप है, हमारे पूरे समाज का रूप है, हमारी राजनीति का जहर है, तभी तो राजनीति आस्ट्रेलियन वोमर्स की बग्घी पर 'एडीसियो' से घिरी 'सलाम' लेती है और साहित्य विक्षिप्त-सा होकर गंगा की रेती मे फटी बिवाइयो के रक्त-चिह्न छोड़ता हुआ दम तोड़ रहा है :

ये दुःख के दिन
काटे है जिसने
गिन-गिनकर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये,
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशि-मुख
दुःख निशा मे
उज्ज्वल अमलिन।

'अर्चना' आज के इस 'तुलसीदास' की विनय-गीतिका है। निराला नये युग की 'अरुणा' की अर्चना कर रहे हैं। वे हमारे युग के नेता है, हम उनके शब्दो को, उनकी व्यंजना को खूब पहचानते हैं कि उनका अर्थ 'अरुणा' से क्या है :

काटे कटी नहीं जो कारा
उसकी हुई मुक्ति की धारा,
बार-बार से जो जन हारा
उसकी सहज साधिका अरुणा।[1]

---

१. लेखक—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रकाशक—कला-मन्दिर प्रयाग।

गोपालकृष्ण कौल

दूसरा सप्तक

हिन्दी के नए सात कवियो की कविताएं 'दूसरा सप्तक' मे संग्रहीत की गई हैं। कविताओं के साथ-साथ प्रत्येक कवि ने अपना-अपना वक्तव्य भी दिया है। सग्रह के सम्पादक 'अज्ञेय' जी ने भूमिका में पिछले 'तार-सप्तक' की सफाई देते हुए इस दूसरे सप्तक को प्रस्तुत करने के कारणों के स्पष्टीकरण मे कहा है :

"कवियो की ओर से इस संग्रह मे भी उतना ही कम, उतना ही अन्यमनस्क और विलम्बित सहयोग मिला जितना पहले 'सप्तक' मे मिला था; बल्कि इस बार कठिनाई कुछ अधिक थी, क्योकि इस बार प्रस्ताव उनका नही था कि एक सहकारी प्रकाशन किया जाय, इस बार हमारा आग्रह था कि नए काव्य का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला जाय।"

इससे स्पष्ट है कि यह आयोजन केवल कविता-संग्रह के प्रकाशित होने की असुविधाओं का सामना करने के लिए विभिन्न कवियो की कृतियो का संयुक्त संकलन-मात्र ही नहीं; बल्कि 'अज्ञेय' जी के मतानुसार 'नए काव्य का प्रतिनिधि संग्रह' भी है। इस मत को सामने रखने पर कई प्रश्न खडे हो जाते है। यदि इन प्रश्नों को सीधी-सादी भाषा मे पूछें तो पूछना पड़ेगा कि क्या प्रस्तुत सग्रह की कविताए हिन्दी के नए काव्य-प्रवाह का सही प्रतिनिधित्व करती है? क्या हिन्दी की नई कविता वही है, जिसके नमूने इस संग्रह मे प्रस्तुत किये गए है? क्या हिन्दी के ये नए सात कवि नई कविता का प्रतिनिधित्व करने की भी क्षमता रखते है?

इन प्रश्नो का उत्तर देने से पूर्व प्रस्तुत संग्रह के कवियो के कृतित्व का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योकि उनमे नई कविता के प्रतिनिधित्व का भार वहन करने या न करने की क्षमता के लक्षण उनकी रचनाओं के अध्ययन और विवेचन से ही स्पष्ट हो सकते हैं।

संग्रह के क्रम के अनुसार प्रथम कवि हैं—भवानीप्रसाद मिश्र। इनकी केवल दस कविताएं संग्रह मे हैं, जिन्हे वे स्वयं भी अपनी 'ठीक प्रतिनिधि कविताएं' नही मानते हैं। इन्होने अपने वक्तव्य मे कहा है :

"'दूसरा सप्तक' की मेरी कविताएं मेरी ठीक प्रतिनिधि कविताएं नही हैं।"

फिर भी इन दस कविताओं मे मिश्र जी की जिस विशेषता का दर्शन होता है—वह है अभिव्यक्ति की सहजता। भाषा मे सरलता, छन्दों मे एक प्रकार का प्रवाह संग्रह के दूसरे कवियों की अपेक्षा इनकी रचनाओं में विशेष है। 'सतपुड़ा के जंगल' और 'सन्नाटा'—कविताओं मे वर्णनात्मक रोचकता है। ये दोनों कविताए 'द्विवेदी युग' की इतिवृत्तात्मक कविता की याद दिला देती हैं। 'मंगल-वर्षा' लोक-गीत की धुन मे लिखा गया वर्षा-गीत है, जिसमे लोक-शब्दो की योजना द्वारा उसे बिलकुल लोक-गीत-सा बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। 'प्रलय' और 'स्नेह-शपथ' कविताओं मे कवि के गाधीवादी आदर्शों के प्रति आकर्षण की प्रतीति होती है। 'स्नेह-शपथ' मे कवि कहता है :

> हो दोस्त या कि वह दुश्मन हो,
> हो परिचित या परिचय-विहीन

तुम जिसे समझते रहे बड़ा
या जिसे मानते रहे दीन
यदि कभी किसी कारण से
उसके यश पर उड़ती दिखे धूल
तो सख्त बात कह उठने की
रे, तेरे हाथों हो न भूल।

'असाधारण' कविता पुराने नीति-पदों का आधुनिक संस्करण है।

'गीत फ़रोश' आधुनिक कवियों की अप्रतिष्ठा और उनकी कमजोरी पर तीखा व्यंग्य है।

इनकी कविताओं में वैसी शैलीगत कृत्रिमता नहीं जैसी इस संग्रह के कुछ दूसरे कवियों की कविताओं में पाई जाती है, क्योंकि कवि को स्वयं टेकनिक के नाम पर रीतिवादी चमत्कारों की शरण में जाने का कोई मोह नहीं है। कहीं-कहीं शब्दों के चिन्त्य प्रयोग किये गए हैं, जो कवि की सहज निरंकुशता के 'परिचायक' हो सकते हैं, लेकिन कविताओं के प्रवाह को अक्षुण्ण ही रखते हैं।—जैसे 'प्रलय' कविता में 'मत' शब्द का प्रयोग 'नहीं' के स्थान पर ठीक से नहीं किया गया है, 'मत' और 'नहीं' समानार्थक होते हुए भी प्रयोग की दृष्टि से भेद रखते हैं। इस कविता में लिखा है :

एक दिन होगी प्रलय भी
मत रहेगी झोपड़ी,
मिट जायंगे नीलम-निलय भी।

यहाँ 'मत' शब्द 'नहीं' का अर्थ देते हुए भी खटकता है।

कवि के वक्तव्य और कविताओं में सामंजस्य है। संग्रह के दूसरे कुछ कवि वक्तव्य में घोषणा कुछ करते हैं, कविता में लिखते कुछ हैं। किन्तु इनमें यह विषमता नहीं। अपने शब्दों में इन्होंने स्वयं अपना ठीक ही विश्लेषण किया है कि—"दर्शन में अद्वैत, वाद में गांधी का, और टेकनिक में सहज लक्ष्य ही मेरे बन जायं, ऐसी कोशिश है!"

मिश्र के बाद है शकुन्तला माथुर—संग्रह में एक-मात्र महिला-कवि। इन्हें कवि-पत्नी (गिरजाकुमार माथुर की पत्नी) से कवयित्री के रूप में साहित्य में सामने लाने का श्रेय इस संग्रह के सम्पादक को देना चाहिए। इन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है :

"मैंने जब भी कुछ लिखा उसे मन की एक मौज समझकर छोड़ दिया, और मेरे पति ने भी उसे सदा हँसी में टाल दिया। इसके अतिरिक्त जब भी मैं कविता लिखती, इनकी कोई-न-कोई रचना सामने आकर खड़ी हो जाती और मेरी कविता शर्मिन्दा हो जाती।"

ऐसी शर्माती हुई कविताओं को 'नए काव्य के प्रतिनिधि संग्रह' में स्थान देना सचमुच सम्पादक के साहस का काम है। इनकी भाषा में सादगी है और कविता में शब्द-चित्र बनाने का प्रयत्न। जहाँ-तहाँ गिरजाकुमार माथुर की छाप है। इनकी संकलित ग्यारह कविताओं में 'जान-बूझकर नहीं जानती' कविता अन्य कविताओं की अपेक्षा अधिक रागात्मक है। 'लीडर का निर्माता' और 'ताजा पानी' में सामाजिक चेतना की प्रतीति है।

तीसरे कवि हैं हरिनारायण व्यास। इनकी कविताओं में नई जिन्दगी के स्वप्न देखने की चेष्टा है। इस स्वप्न को 'नया विश्वास', 'नया आकाश', 'नव सृजन' आदि शब्दों द्वारा बार-बार

अभिव्यक्त किया गया है; किन्तु जिन्दगी का नयापन अपने स्पष्ट रूप मे कवि के सामने नही है—केवल एक धुँधली आशा उसे आगे की ओर खीचती है। उसने अपने वक्तव्य मे सिद्धान्तो की बड़ी-बड़ी बाते की है या अपनी बातो को बड़े-बड़े सिद्धान्तो की शक्ल देनी चाही है, किन्तु प्रत्येक कथित शब्द-समूह सिद्धान्त नही बन सकता—इसलिए ऐसा प्रयास कही-कही उपहासास्पद प्रतीत होने लगता है। अपने वक्तव्य में उसने ऐसी कई बाते कही है जैसे—'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' की वैयक्तिकता को 'तारसप्तक' के कवियो के काव्यात्मक व्यक्तिवाद का आधार बताना। इस तरह के 'स्तवन' से किसी साहित्यिक सिद्धान्त को निकालने का प्रयास सर्वथा अवैज्ञानिक है।

इनकी कविताओ मे सादृश्यमूलक अलकारो के उपकरण प्रकृति से ही अधिक ग्रहण किये गए है। कुछ दूसरे कवियो की तरह ड्राइंग रूम और शहरी जीवन से ये नई उपमाओ की बलात् खोज नही करते। 'उठे बादल, झुके बादल' उनकी संकलित दस कविताओ मे सबसे ज्यादा प्रभावोत्पादक है।

चौथे कवि हैं—शमशेरबहादुरसिंह। इन्होने अपने वक्तव्य मे स्पष्ट शब्दो मे अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। वे लिखते हैं :

"अपने चारो तरफ की जिन्दगी मे दिलचस्पी लेना, उसको ठीक-ठीक यानी वैज्ञानिक आधार पर (मेरे नजदीक वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है) समझना और अनुभूति और अपने अनुभव को इसी समझ और जानकारी से सुलझाकर स्पष्ट करके, पुष्ट करके अपनी कला-भावना को जगाना।"

शमशेर के इस वक्तव्य मे जो स्पष्टता और सुलझापन है, वह उनकी कविताओ मे नही। बल्कि दृष्टिकोण मे जितने वे सुलझे हुए है, कविता मे उतने ही उलझे हुए है। एक शब्द मे कहा जाय तो कहना पडेगा कि वे आकारवादी (फॉर्मेलिस्ट)हैं। कलागत प्रयोग करना ही उनकी कला-साधना है। वे विषय-वस्तु को रूप-विधान का अनुगामी बनाते है; इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति उलझी हुई होती है जब कि प्रभावपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ यह है कि विषय-वस्तु और रूप-विधान मे ऐसा सहज सामंजस्य पैदा किया जाय कि दोनो का भेद मिट जाय। कविता के शरीर पर प्रयोग करने की धुन मे यह कविता का शवच्छेद तक कर डालने का प्रयत्न है। जनवादी दृष्टिकोण रखने पर भी,—इसीलिए—शमशेर की कविताओ मे जनवादी रागात्मकता नहीं है; कृत्रिमता है सहजता नही। छन्द, ताल, लय के नए-नए प्रयोग हैं स्वरो की साधना है, अर्थ का हृदयस्पर्शी चमत्कार नहीं। इस प्रकार की कला-साधना कला मे अभिजात्य दुरुहता पैदा करके कला को जन-सम्पर्क से अलग रखकर उसको रचनात्मक और रागात्मक नहीं रहने देती। फिर भी सजग दृष्टिकोण और कला की समझ शमशेर मे इतनी है कि यदि वे चाहे तो अपनी कविता को आकारवाद के क्षय-रोग से बचाकर उसमे जिन्दगी फूँक सकते है।

इस संग्रह मे शमशेर की २१ कविताएं संकलित हैं। इनके छन्द-प्रयोगों पर कहीं उर्दू छन्दो—गजल और रुबाई, कही चलती-फिरती लयो और कही लोक-संगीत का प्रभाव है। भाषा : कहीं ठेठ हिन्दी का ठाठ है, कहीं उर्दू की खिचड़ी और कहीं तत्सम शब्दो का प्रयोग। संग्रह के कवियो मे शमशेर ने ही छोटे-से-छोटे रूप में बड़ी-से-बड़ी बात कहने का प्रयास किया है, चाहे आकारवादी प्रवृत्ति के कारण वह अस्पष्ट और उलझी हुई बन जाती है। 'घिरते आकाश को' कविता कितनी छोटी है :

घिरते आकाश को ताकता हताश :
गहरे नभ में चाँद खोता जाता है
अन्धकार
चुप-चुप हँसता आता सब ओर ।

इसी प्रकार 'मैं सुहाग हूँ', 'हास बन', 'हार हार समझा मैं' आदि कविताएं हैं। संक्षेप मे बड़ी बात कहने का तरीका प्रभावशाली होता है यदि उसमें सूत्र गढ़ने की प्रवृत्ति न पैदा हो जाय। कविता को सूत्र बनाने का अभिप्राय ही यह है कि उसके साथ एक भाष्य भी प्रस्तुत किया जाय। शमशेर की कुछ कविताओं मे संक्षेप मे बात कहने के छन्दगत मोह ने जो सूत्र-से गढ़े हैं वे भी अपनी उलझन के कारण भाष्य की अपेक्षा रखते हैं। इनमे चित्रकारों की तरह ऊपरी 'टच' देने की प्रवृत्ति है। इनकी कला में सामाजिक चेतना व्यक्ति-केन्द्रिकता का शिकार हो गई है।

पाँचवें कवि हैं—नरेशकुमार मेहता। यह मूलतः स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति (रोमाटिक) के कवि हैं। इन्होंने 'आदि काल के काव्य से भावों की विराटता' ग्रहण करके 'कल्पना-प्रधान कविताएं' लिखने का प्रयत्न किया है। 'उषस्' शीर्षक की चार कविताएं वैदिक प्रकृति-उपासना को आधुनिक रूप देने का प्रयास है। बात को चमत्कारपूर्ण ढंग से कहने के लिए यह कवि सदा सजग रहता है और इसीलिए सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग पद-पद पर करके अपनी इस सजगता का वह परिचय देता है। इनकी सभी कविताएं अलंकार-सुगठित और चमत्कारपूर्ण हैं। 'किरन धेनुएं' कविता प्रातःकाल का अच्छा रूपक है। 'समय देवता' इस कवि की ही नहीं, बल्कि इस संग्रह की सबसे लम्बी कविता है। विषय-वस्तु भी इस कविता की बड़ी विस्तृत है। समय की विराटता को चित्रित करने के लिए इस कविता मे कवि ने चीन, जापान, रूस, तिब्बत, मिस्र आदि अनेक देशों की मानसिक यात्रा ही कर डाली है और समय के भावी रूप की ओर संकेत है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैः

नए मनुज के हाथों मे श्रम की रेखाएं
आल्प्स रचेगा नए रूप मे,
राइन वोल्गा गंगा के वह इन धरती पर आज लिखेगा
—नए जल छन्द

उसके श्रम के नवल क्षितिज की ओर—
—दौड़ते सूरज घोड़े आलोकों की उल्काएं ले!
समय देवता! आज विदा लो,
किन्तु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र मे मिट्टी—
—का विश्वास बाँधकर भेज रहा हूँ।
मेरी धरती पुष्पवती है,
और मनुज की पेशानी के चरागाह पर दौड़—
—रही हैं तूफानों की नई हवाएं।

इस प्रकार यह कवि नए युग की 'श्रम की रेखाओं' को पढ़ता हुआ 'मिट्टी का विश्वास' बाँधकर बदलती हुई 'नई हवाओं' के रुख से परिचित है। 'समय-देवता' मे उसके इस

युग-परिचय की पुकार है। चार सौ पंक्ति की इस लम्बी कविता मे प्रत्येक पक्ति को अलंकार-सुगठित किया गया है।

कवि में कुछ अलंकारो के प्रति छायावादी कवियो-जैसा मोह है। छायावादी कवि जैसे अपनी आत्मनिष्ठ कविता मे बिना रूपक और उपमा के आगे नहीं बढते, कुछ इसी प्रकार का मोह इस कवि में भी है। जब कि वह अपने वक्तव्य मे कहता है—"पिछली अपनी छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओ को मै कविता नही मानता।"

इनका वक्तव्य इनकी कविताओ से अधिकांशतः असंबद्ध है। इस वक्तव्य मे अप्रासगिक रूप से 'शेखर' का 'स्तवन' किया गया है। व्यक्तिगत प्रयोगवादियो को 'युग को मोड' देने वाली प्रतिभा बताया गया है, (जब कि व्यक्तिगत प्रयोगवाद युग-सत्य से सदा पलायन करता है) और अपने नएपन को असतुलित रूप से घोषित किया गया है। एक स्थान पर आप फर्माते है :

"किसी भी प्रकार के प्रभाव से लिखी गई कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा। और यह द्वितीय वाली बात मुझे नही पसन्द है।"

किन्तु वह 'आदिकाल के काव्य से भावो की विराटता' भी ग्रहण करते है और छायावादी अलकार-योजना से भी ज्ञात-अज्ञात रूप से प्रभावित हैं। कवि का दृष्टिकोण इस प्रकार, उसके 'अहं की कुण्ठा' से पीड़ित है।

छठे कवि है—रघुवीर सहाय। इनके वक्तव्य मे घोषित दृष्टिकोण का इनकी कविताओ के साथ कुछ भी सामंजस्य नही बैठता। 'बच्चन की कविताओ की वेदना' से इनका जो स्वर फूटा था, वह इनके गीतो मे रोमाटिक स्वर के रूप मे छा गया है। जैसे :

युक्ति के सारे नियन्त्रण तोड़ डाले,
मुक्ति के कारण नियम सब छोड़ डाले
अब तुम्हारे बन्धनो की कामना है

× × ×

खोल दो, अब द्वार प्रेयसि प्रात का
मुक्त हो बन्दी, अभागिन रात का

अपने वक्तव्य मे आपने जिस सामाजिक, साम्यवादी स्वस्थ दृष्टिकोण की वकालत की है, कविताओं में वह अनुभूति बनकर अभिव्यक्त नहीं हुई। कविता मे तो 'पथ ही अनेक हैं, अथवा कुछ दिग्भ्रम-सा होता है' का स्वर ही प्रधान है। इस दृष्टि से 'पहला पानी' अच्छी कविता है, उसमे अवधी के लोक-शब्दो का प्रयोग एक चित्रात्मकता पैदा करता है। रघुवीर सहाय का यह दावा कि वे "शैली ताल और गति के कुछ प्रयोग कर पाए हैं" उनकी कविताओ में कही भी चरितार्थ नही हुआ। कहीं-कही तो मुक्त छन्द कोरा गद्य-सा बन गया है और कहीं मात्रा-भेद से गतिरोध भी है। यदि इनका दृष्टिकोण अनुभूति बनकर कविता मे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो तो इनकी सादगी इन्हें अधिक सफलता प्रदान कर सकती है। भले ही ये 'कविता पर मार्क्सवाद का गिलाफ़' न चढ़ायं, किन्तु उसमे एक सामंजस्य अवश्य पैदा करे।

सातवें कवि हैं—धर्मवीर भारती। भारती का वक्तव्य अपने मे स्वयं एक कविता-जैसा ही है। उन्होने अपने वक्तव्य मे जिस लहजे से बात कही है, वह थोड़ा अहकारग्रस्त होते हुए भी दिलचस्प है और शायद इसीलिए वे जरूरत से ज्यादा बहाव में इतना कुछ कह गए हैं जो सब

उनकी कविता मे नही दिखाई देता। कुछ बाते अवश्य मिलती हैं। वे मानते हैं कि "कविता का मुख्य कार्य आज के युग मे रूढ अर्थों मे रसोद्रेक-मात्र न रहकर 'प्रभाव डालना' रह गया है।" तो चाहे भारती की कविताओं से रसोद्रेक न हो, किन्तु प्रभाव वे अवश्य डालती है; क्योंकि उनमें 'उन्मुक्त रूपोपासना' और 'उद्दाम यौवन की मांसलता' है और ये दोनो बातें प्रभाव डालती ही है (प्रभाव कैसा होता है यह बात दूसरी है)। भारती की कविताओं मे अभिव्यक्ति का प्रकार कुछ उर्दू वालों की बारीकी और वक्रता मे बात कहने की खूबी से विशेषतः प्रभावित है। 'बरसाती झोका' कैसे आता है :

चूमता आषाढ़ की पहली घटाओ को
झूमता आता मलय का एक झोका सर्द;
छेड़ता मन की मुँदी मासूम कलियो को
और खुशबू-सा बिखर जाता हृदय का दर्द।

इसी तरह और कई कविताओ मे बात कहने की एक नाजुक खूबी है, किन्तु कहीं-कहीं यह खूबी कृत्रिम अलंकार-योजना से दुरूह भी हो गई है। इस दुरूहता का उदाहरण 'चुम्बन' कविता है।

भारती कहते है कि वे अपनी रुचि और ईमान की कविता लिखते है। यदि उनकी रुचि 'गुनाह के गीतों' मे उनके ईमान को सामने लाती है तो कहना पड़ेगा कि भारती युग-वास्तव से अभी दूर हैं। गुनाह के गीत मे दमित वासना का विस्फोट है। इस गीत की कुछ पंक्तियाँ है :

इन फ़िरोजी होंठो पर बर्बाद
मेरी जिन्दगी

× × ×

मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद
गुनाहो से कभी मैली हुई बेदाग तरुनाई
सितारो की जलन से बादलो पर आँच कब आई ?

'गुनाह का दूसरा गीत', 'तुम्हारे पाँव मेरी गोद में'—कविताएं भी इसी प्रकार की दमित वासना का विस्फोट हैं, जो प्रभाव डालने मे समर्थ हैं, किन्तु कैसा प्रभाव ?—इसकी व्याख्या भारती स्वयं कर सकते है। इस प्रकार की उनकी कविताओ पर 'अंचल' का प्रभाव स्पष्ट है। यही नहीं दूसरी कविताओ मे भी समसामयिक नए कवियो से वे आगे नही बढ़ पाए है। किन्तु भारती मे कला की रचनात्मक प्रतिभा है, बात कहने का प्रभावपूर्ण ढंग है, यदि उनका दृष्टिकोण युग-वास्तव के नए विश्वास की शक्ति प्राप्त कर सके तो वे मात्र दमित वासना के विस्फोट से बचकर, गुनाहो के गीत न गाकर, 'ध्वंस मे पड़ी मूर्छिता जिन्दगी' को वे होश मे ला सकते हैं।

× × ×

इन सात कवियो के विषय मे अज्ञेय जी ने भूमिका में कहा है—"यद्यपि सब कवियो में भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति को सफाई एक-सी नहीं है और अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा मे प्रत्येक मे मिलेगी, तथापि सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है जो प्रयोग को सार्थक करती है।"

प्रश्न उठता है किस प्रयोग को सार्थक करती है ? उस 'प्रयोगवाद' को तो नहीं सार्थक

करती, जिसकी सफाई भूमिका के पूर्वार्ध मे अज्ञेय जी ने दी है? इस स्वीकरण मे प्रयोग का समर्थन करते हुए 'प्रयोगवाद' से इन्कार किया गया है। वे प्रयोग को साधन मानते है, और कहते हैं कि "प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनो के क्षेत्र मे प्रयोग फलप्रद होता है।"

दोनो सप्तको के अधिकाश कवियो ने शिल्प के क्षेत्र मे ही प्रयोग किए है, वस्तु के क्षेत्र मे नही; क्योकि वस्तु का क्षेत्र आज सामाजिक वास्तव का क्षेत्र है जिससे इन कवियो का केवल बौद्धिक सम्पर्क है। शिल्पगत प्रयोग करने की निष्ठा लेखक को आकारवादी बना देती है, उसका साहित्य स्वस्थ प्रयोगशील साहित्य नहीं बन पाता। प्रयोगशील साहित्य शिल्प और वस्तु के विभाजन के साथ साथ आगे नहीं बढ़ सकता—दोनो के वैज्ञानिक सामंजस्य से सफल कृति का निर्माण होता है, बल्कि किसी सीमा तक शिल्प को वस्तु का अनुगामी बनना पड़ता है।

सप्तको के कवियो ने शैलियो की भिन्नता और शिल्प के नाना रूपो को तो सामने रखा, किन्तु उनमे युग का यथार्थ वस्तु बनकर समाहित नहीं हो सका; क्योकि उनकी दृष्टि शिल्प पर ही केन्द्रित थी। इसका कारण ही यह था कि जीवन की विभिन्न वास्तविकताओ, वर्ग-आधारो, सामाजिक द्वन्द्वो के वास्तववादी सम्पर्क से ये दूर थे। केवल अभिजात्यवर्गीय दुरभिसन्धि से निर्मित सस्कृति के कृत्रिम तथ्य ही इन्हे अपनी ओर आकर्षित कर सके या इन्होने अपने अभिजात्य स्तर से कुछ नीचे उतरने की कोशिश भी की तो एक लज्जा के साथ, एक अहं के साथ, जिसने इनका उसके साथ तादात्म्य नहीं होने दिया, या इनकी अनुभूति मे आकर वह इनके अभिजात्य संस्कारो से आच्छादित हो गया। वस्तुगत युगसत्य की यथार्थता से दूर रहने के कारण इनकी कला व्यक्ति-केन्द्रित बनती गई, क्योकि उससे सामाजिक चेतना अपने सहज रूप से विकसित न हो सकी। सामाजिक चेतना का विकास केवल शिल्पगत प्रयोगो मे तो हो नहीं सकता। हिन्दी मे छायावाद भी इसी प्रकार एक शिल्पगत प्रयोग की भावना लेकर पैदा हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी छायावादी कवि आत्मनिष्ठ हैं वस्तुनिष्ठ नहीं—और इसीलिए युग का यथार्थ उनकी कविताओ मे ध्वनित नहीं हो सका। किन्तु उस समय छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण उद्‌भूत हुआ था जब कि प्रयोगवाद युग की ऐतिहासिक आवश्यकता से बहुत दूर है।

अज्ञेय जी का यह कहना कि कवि प्रयोग द्वारा अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है, शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से कहाँ तक ठीक है? प्रयोग के द्वारा सत्य की अनुभूति स्वयं कवि को कैसे हो सकती है? सत्य वस्तुनिष्ठ होता है शिल्पनिष्ठ नहीं, और सत्य की अनुभूति रचनाकार को प्रयोग करने से पहले ही होती है।

पहले 'तार सप्तक' के अज्ञेय, माचवे और रामविलास की परम्परा को दूसरे सप्तक के किसी कवि ने आगे नहीं बढ़ाया है। गिरिजाकुमार माथुर की चित्रात्मक प्रतीक-शैली को इसमे दो कदम आगे बढ़ाया गया है। छन्दो के संगीतात्मक प्रयोग मे शमशेर सबसे ज्यादा व्यस्त हैं। भवानीप्रसाद मिश्र शैलीगत प्रयोगो के रोगों से मुक्त हैं। इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति अधिक सहज और प्रभावपूर्ण है। किन्तु एक बात में 'दूसरे सप्तक' के कवि 'तार सप्तक' से विशेष आगे नहीं बढ़ पाए हैं—वह है आत्मनिष्ठा या व्यक्तिकेन्द्रिकता। आज कवि मे जिस सामाजिक चेतना के ज्वलन्त रूप की अपेक्षा की जाती है, वह अभी इनमे से किसी मे भी नही पैदा हुई। जहाँ तक

सामाजिक चेतना का सम्बन्ध है, वह इन कवियों में पन्त की 'ग्राम्या' और 'निराला' के 'कुकुरमुत्ता'-जितनी भी पैदा नही हुई और न शिल्पगत प्रयोग मे ही ये उस सीमा से बहुत आगे बढ सके है।

प्रश्न उठता है कि इनके प्रयोगो से (चाहे वे प्रयोगवादी न हो) हिन्दी की नई कविता कितनी आगे बढ़ी है? क्या आकारवादी कविता ही आधुनिक हिन्दी-कविता है? इस कविता मे युग-वास्तव को कितनी अभिव्यक्ति मिली है? यदि इन सब प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक ही अधिक हो तो इस काव्य-धारा को हिन्दी का नया काव्य मान लेना ऐतिहासिक दृष्टि मे 'शीघ्रता' होगी। इस निर्णय का भार इतनी जल्दी इन आकारवादी कवियो के कन्धो पर नहीं लादा जा सकता। इसके लिए अनेक नए कवियो की कविताओं के अध्ययन की आवश्यकता है। इसलिए इस सग्रह को 'नए काव्य का प्रतिनिधि संग्रह' घोषित करना युग और साहित्य की प्रगति को देखते हुए जलदबाजी करना है। किन्तु नए कवियो को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से यह सामूहिक प्रकाशन की योजना अभिनन्दनीय है।[1]

विश्वम्भर 'मानव'

पथ की खोज

'पथ की खोज' डॉक्टर देवराज का दो भागो मे असमाप्त पहला उपन्यास है। इसका कथानक एक लेखक के जीवन से सम्बन्धित है। इस उपन्यास मे यों दो दर्जन से अधिक पात्र है, पर मुख्य तीन ही हैं—चन्द्रनाथ, साधना और सुशीला।

चन्द्रनाथ एक चिन्तनशील लेखक है। प्रखर बोध-वृत्ति के सामने भावना का वेग उसमे कुछ दबा हुआ दिखाई देता है। साहित्य, राजनीति, विज्ञान, दर्शन और प्रेम मे सहज गति होने पर भी लौकिक दृष्टि से वह कुछ अव्यावहारिक है। आर्थिक चिन्ता से वह कभी मुक्त नहीं हो पाता। उसके प्रेम का इतिहास यह रहा है कि पहले वह माँ के वात्सल्य का अनुभव करता है, फिर अपने एक सहपाठी के प्रति आकृष्ट होता है। दूर की एक भाभी के स्निग्ध भाव का अधिकारी होने पर उसका विवाह होता है। इस विवाह से उसे मानसिक तृप्ति नही होती; अतः वह एक दूसरे स्थान पर भाव का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। पर भाव को लेकर जीवित रहने वाले व्यक्तियो मे चन्द्रनाथ नहीं है; अतः पत्नी की मृत्यु होने पर और प्रेमिका के जीवित रहने पर भी वह दूसरा विवाह कर लेता है। बीच-बीच में उसका शरीर स्पर्श करने के अवसर भी उसे मिले हैं और एक रात वह एक सस्ती वेश्या के यहाँ भी चला गया है। हृदय से कोमल और निश्छल होने पर भी आदर्श से वह कई स्थानो पर गिरा है।

साधना इस उपन्यास का मूल आकर्षण है। चन्द्रनाथ से उसका परिचय उसके विवाह में हुआ। लगता है तभी वह आकर्षित हो गई थी—विशेष रूप से उसकी प्रतिभा से। चन्द्रनाथ की उन्नति से उसे प्रसन्नता होती है। उसके प्रति उसका भाव धीरे-धीरे विकसित होता है।

---

१. सम्पादक—अज्ञेय, प्रकाशक—प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।

सामने आने पर वह संकोच और लज्जा का अनुभव करती है। प्रेम के ये लक्षण कई बार प्रकट हुए हैं। आत्मीयता की ओर वह बराबर बढ रही है और उसके प्यार मे कभी अन्तर नहीं आता। चन्द्रनाथ की प्रसन्नता के लिए ही उसने विवाह किया, चन्द्रनाथ के पत्र ही पति से सम्बन्ध-विच्छेद के मूल कारण रहे और चन्द्रनाथ से अपनत्वपूर्ण अनुभूति के लिए ही उसका हाथ उसने अपने वक्ष पर रखा। वेदना मे उसका व्यक्तित्व बराबर विकसित हुआ है। संवेदनशील होने के साथ ही वह स्वाभिमानिनी और स्वावलम्बिनी है। स्वतन्त्र चिन्तन की उसमे क्षमता है। इसी से अन्त मे वह देश-सेवा की ओर अग्रसर होती है। सच बात यह है कि चन्द्रनाथ-जैसा व्यक्ति उसके प्रेम का अधिकारी नही है।

सुशीला सरल है, गार्हस्थ्य जीवन के सुख को ही वह सब कुछ समझती है। चन्द्रनाथ उसमे असन्तुष्ट रहता है, पर उसके सतोष के लिए उसने ही क्या किया है? गृह-कलह के मूल मे चन्द्रनाथ की गरीबी रही है, जिसे वह नही समझता। सुशीला के मन मे जो सुख की लालसा है, उसे स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। पर चन्द्रनाथ केवल कला और बातो की कला से ही उसे प्रसन्न करना चाहता है, चन्द्रनाथ और साधना दोनो ने ही इस सरला को अपना प्रेम पल्लवित करने का माध्यम बनाया है। मिलन-काल मे सुशीला चन्द्रनाथ से एकाध अश्लील शब्द का उच्चारण करा लेती है। चन्द्रनाथ इसे सुशीला की असंस्कृत रुचि का परिचायक मानता है। पर रस के ऐसे तीव्र क्षण में जो न डूबकर विश्लेषण करने बैठता है, वह क्या तो जीवन का रस ले सकता है और क्या जीवन को समझ सकता है?

पथ की यह खोज क्या है? प्रस्तावना मे उपन्यासकार ने कुछ बड़े शब्दो का प्रयोग किया है जैसे विराट मानवता, भारतीय संस्कृति, महाप्राण विचारक, नई जीवन-दृष्टि, क्रान्तिकारी परिवर्तन। इससे ऐसा भ्रम हो सकता है कि कोई महाप्राण विचारक भारतीय संस्कृति को अपने विचार का आधार बनाते हुए ऐसी नई जीवन-दृष्टि दे रहा है जो जन-जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाते हुए विराट मानवता का उद्धार करेगी। बहुत सम्भव है कि उपन्यास लिखने के पूर्व ऐसा विराट विचार डॉ० देवराज के मस्तिष्क मे उगा हो; पर इस उपन्यास मे तो उसका क्षीण आभास तक नही मिलता। ऐसे महान् विचार की पूर्ति केवल उसी दशा मे हो सकती थी, जब इस कृति के उपादान भी किसी रूप में महान् होते। पर यहाँ तो आधुनिक काव्य पर थोड़ा विचार-विमर्श है, क्या यही भारतीय साहित्य है?—गाधीवाद का थोड़ा समर्थन है, क्या यही भारतीय राजनीति है?—वैवाहिक प्रथा पर थोड़े आक्षेप हैं, क्या यही देश की सामाजिकता का स्वरूप है? तीर्थ-स्थानो मे थोडे दोष दिखाए गए हैं, क्या यही भारतीय धर्म के प्रतीक हैं? कुण्ड के एक चुल्लू-भर जल की परीक्षा करके उसे यह कहने का साहस किस आधार पर हुआ है कि वह भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह को देख पाया है और उस चेतना के बारे मे सर्वज्ञ होने का दावा कर सकता है?

इस बात को अधिक स्पष्ट करें तो कहना होगा कि प्रभावशाली बड़ी घटनाओ को आँखो के सामने लाए बिना यहाँ उन पर तर्क-वितर्क किये गए हैं, जैसे 'हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया।' इस अखबारी समाचार से युद्ध की विभीषिका आँखों के सामने खड़ी नहीं होती। इस पर यदि मैं कहूँ कि हिंसा से मानव-कल्याण सम्भव नहीं, तो पाठक के ऊपर बहुत कम प्रभाव पड़ेगा। ऐसे ही चार विद्यार्थियो को लेकर आप एक क्लब बना लीजिए, जिसमे सबसे बुद्धिमान्

सदस्य आप ही हैं, तो इससे इस युग के महान् साहित्यिको के व्यक्तित्व का परिचय शायद ही आपको मिले। ऐसे ही किसी भट्टे पर खड़े होकर चवन्नी के पैसे भुनाकर ईंट ढोने वाले छोटे-छोटे बच्चों को आप एक एक पैसा बॉट दीजिए, करुणा का यह ऐसा हलका प्रसंग है कि इससे कराहती मानवता के दुःख का कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। तात्पर्य यह है कि बडी बात कहने के लिए बड़ी अनुभूति भी होनी चाहिए।

जिन साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक समस्याओं को डॉ॰ देवराज ने उठाया हैं उन्हे बहुत पहले एक-एक करके शरच्चन्द्र, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा और अज्ञेय उठा चुके हैं, पर वैसी गम्भीरता, सहानुभूति, बौद्धिकता, रोचकता और मनोवैज्ञानिकता एवं शक्ति मे से कुछ भी डॉ॰ देवराज मे नही पाया जाता। तर्क करते समय अनुपात का ध्यान लेखक को नही रहता; अतः ऐसे स्थलों पर पाठक की इच्छा होती है कि बीच-बीच मे कुछ पृष्ठ पलट-कर वह पुस्तक को पढता चले। निश्चित रूप से यह कला की असफलता है।

कथानक भी बिखर गया है। उसे डॉ॰ देवराज सॅभाल नहीं पाए। मेरी दृष्टि से दूसरे भाग का पूर्वांश बिलकुल व्यर्थ है। एक अध्याय मे यदि उसे समेट लिया जाता तो उपन्यास की वस्तु के गठन मे अधिक चुस्ती आ जाती। पाठक बिलकुल नही चाहते कि नरेन्द्र और मदन के व्यर्थ के झमेले मे उपन्यास की मुख्य पात्रो को इतनी देर तक भुलाया जाय। सुशीला की मृत्यु भी व्यर्थ ही कराई गई है। जब लेखक का दूसरा विवाह ही कराना है और साधना को उसके पास लाकर दूसरी पत्नी के संदेह द्वारा दूर ही करना है तो सुशीला से ही यह काम कराया जा सकता था। क्यो नही सुशीला के हृदय मे सदेह और ईर्ष्या का जन्म हो सकता? इसी प्रकार साधना का विवाह होने पर साधारण-से-साधारण पाठक अनुमान लगा लेता है कि उसके पति ने पत्र-व्यवहार बंद करा दिया होगा, पर आश्चर्य है कि चन्द्रनाथ इस बात को नही समझ पाता और लेखक बहुत दूर तक उसे एक रहस्य के रूप मे खींचे लिये जाता है। उत्सुकता बनाए रखने का यह ढंग नही है। पथ की इस खोज मे लेखक बार-बार बहक जाता है और इसी से उसका पथ अकारण लम्बा हो गया है। कारण यह है कि लेखक चन्द्रनाथ को केन्द्र बनाकर चलता है और उसके जीवन की छोटी-से छोटी घटना को भुलाना नही चाहता। पर जीवन और कला मे इतना भेद है कि बिखरी घटनाओं मे से केवल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण को चुनकर शेष को भुला देना होता है।

उपन्यास की उस नैतिक समस्या पर, जिसको लेखक समझता है कि उसने बहुत खुलकर विवृत्ति की है, पृथक् रूप से कुछ कहने की आवश्यकता है। मदन, नरेन्द्र और चन्द्रनाथ को लीजिए। ये तीनो विवाहित होते हुए भी औरो से प्रेम करते है। मदन का प्रेम मोह की सीमा को छूता है और नरेन्द्र भौतिकवादी है; अतः अपनी भावना और दृष्टिकोण के कारण वे विलक्षण चाहे लगें, फिर भी अधिक नहीं खटकते। पर साधना के प्रति चन्द्रनाथ का भाव कुछ-का-कुछ बनाकर व्यक्त किया गया है। प्रारम्भ से ही दोनो के हृदय मे प्रेम की भावना है जिसे लेखक स्नेह कहकर छिपाना चाहता है। साधना के लिए 'बहन' शब्द का इतने बार प्रयोग किया गया है कि विरक्ति उत्पन्न होती है। चन्द्रनाथ साधना के रूप का चिन्तन करता है, उसे ओठो पर चूमता है, पहली पत्नी की मृत्यु के उपरान्त यहाॅ तक सोचता है कि यदि उसकी मृत्यु एक वर्ष पूर्व ही हो गई होती तो वह साधना को शायद पा लेता; और अन्त में 'कोमल रबर की एक वस्तु' लेकर उससे भोग के लिए तैयार हो जाता है और फिर भी उसे 'बहन' कहता है। इससे मार्जित रुचि वाले पाठको

की भावना क्षुब्ध होती है और विचारों की पवित्रता कलुषित। मैं समझता हूँ इस प्रकार की 'बहन-बाजी' अब साहित्य में बंद होनी चाहिए।

फिर भी 'पथ की खोज' में बहुत-कुछ ऐसा है जो हृदय को छूता है। सबसे प्रमुख बात है लेखक की ईमानदारी। वह चाहता तो अपने नायक को निर्दोष चित्रित कर सकता था, पर ऐसा उसने नहीं किया। चन्द्रनाथ छिपकर सिगरेट पीता है, अनुवाद के काम को अनुचित समझकर भी हाथ में ले लेता है, सिनेमा या मन्दिर में किसी से शरीर छू जाता है तो शारीरिक सुख और पुलक का अनुभव करता है और शरीर की भूख मिटाने के लिए एक साधारण वेश्या के यहाँ चला जाता है। कला की साधना में रात-दिन लीन रहने वाले और लोक के भीतर उच्चतम आदर्शों की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखने वाले व्यक्ति को इतना दुर्बल पाकर, सम्भव है आपकी भावना को कुछ आघात लगे और आप सोचें कि क्या साहित्यिक भी ऐसा होता है कि जिस पर स्वयं साहित्यिक मान्यताएं लागू नहीं होतीं? पर जीवन का साधारण सत्य यही है। लेखकों के अधिक सम्पर्क में आने का दुर्भाग्य यदि आपको प्राप्त हुआ, तो आप यही पायंगे कि उनमें से बहुत-से अपने साहित्य में जितने असाधारण हैं, अपने व्यक्तिगत जीवन में उतने ही साधारण—कभी-कभी तो साधारण से भी गिरे हुए!

उपन्यास यद्यपि विचारों से भाराक्रांत है और भावना यद्यपि तर्क की धार से क्षत-विक्षत हो गई है, फिर भी विचार-तत्त्व ऐसा नहीं है जो उपेक्षणीय हो। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सन्तुलित है। एकांगिता उसमें नहीं। लेखक किसी का पक्ष लेता नहीं दिखाई देता, किसी को उत्तेजित नहीं करता, किसी को अपना विरोधी नहीं बनाता। बात के पक्ष-विपक्ष को आपके सामने रखकर वह इस प्रकार चुप हो जाता है कि आप उसके विश्वासों के साथ एकमत हो जायं। और यह बहुत बड़ी बात है।

पर पाठकों के निकट 'पथ की खोज' का मूल्य उसके विचार-वैभव में नहीं, बल्कि उस वेदना में है जो देशकालातीत है। उपन्यास समाप्त करने पर पाठक एक उदास वातावरण में डूबकर सोचता ही रह जाता है कि जीवन में क्यों चन्द्रनाथ-जैसा निष्कपट और प्रतिभाशाली साहित्यकार उपेक्षित रहता है? क्यों साधना निरपराध होने पर आघात-पर-आघात सहती है? क्यों सुशीला को जीवन का कोई सुख नहीं मिला? सावित्री को क्यों नरेन्द्र-जैसा पति मिला है? अरुणकुमार जैसे व्यक्तियों को रोकने वाला कहीं कोई क्यों नहीं है? मदन को क्यों ऐसा हृदय दिया कि वह माधुरी को नहीं भुला पाया? और सबसे ऊपर—क्या सन्' ४२ की नृशंसता पृथ्वी पर इसी प्रकार सदैव दुहराई जायगी? मन बार-बार पूछता है कि क्या कहीं कोई ऐसा पथ है जिसे ग्रहण करने पर शक्ति के अपव्यय के बिना व्यक्ति, समाज और विश्व का विकास हो सके?[1]

१. लेखक—डॉक्टर देवराज, प्रकाशक—बुद्धिवादी प्रकाश-गृह, लखनऊ।

उत्तराधिकारी

हिन्दी के यशस्वी कथाकार यशपाल जी की यह नवीनतम कृति है। इसमे पहाड़ी जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नौ कहानियाँ सगृहीत हैं। किसी सृजनात्मक कृति के महत्त्व का निर्णय करते समय आलोचक के सामने एक ही प्रश्न उपस्थित होता है कि आलोच्य पुस्तक ने साहित्यिक परम्परा के विकास मे कितना योग-दान दिया। अग्रेजी मे एक मुहावरा प्रचलित है Old wine in new bottle अर्थात् पुरानी बोतल मे नई शराब। बोतल पुरानी सही परन्तु शराब यदि नई हो तो हमारे हृदय को सन्तोष हो जाता है—चलो एक नई वस्तु तो मिली। प्राचीन चर्वित-चर्वण वस्तुओ से, चाहे वे 'साधु सर्वम्' क्यो न हो, तबियत ऊब गई थी, चित्त मे अवज्ञा के भाव उत्पन्न होने लगे थे, अब इस 'अनवद्य नवम्' को लेकर हृदय की जकड खुलेगी, वहाँ नई वायु के संचार से प्राणो मे स्फूर्ति आयगी। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा अश्क और यशपाल इत्यादि की कहानियाँ पढ़ लेने के बाद 'उत्तराधिकारी' मे कौन-सी विशेषता है जो अपनी मौलिक शक्ति के बल पर पाठको का ध्यान आकर्षित कर सके। मैने कहा, यशपाल की कहानियो के पढ़ लेने के बाद, और यह जान-बूझकर कहा। इसलिए कहा कि अपने मे वह थोड़ी तटस्थता आ सके कि यदि 'उत्तराधिकारी' का लेखक यशपाल न होकर अन्य व्यक्ति होता तो भी 'ज्ञान दान' से लेकर 'फूलो का कुरता' की कथा-शृङ्खला मे यह कौन-सी और कैसी आगे की कड़ी है, इस दृष्टिकोण से विचार कर सकूँ। यदि कोई नया कथाकार होता अथवा एकदम नया न होकर कथा-क्षेत्र मे बस दो एक पग उठाने वाला ही नौसिखिया कलाकार होता तो हम इस दृष्टि से भी विचार कर सकते थे कि इस नये लेखक मे प्रौढ़ता भले ही न हो पर देखे कि इसकी निजता कितनी है और उसमे कितनी शक्ति (Potentiality) है जो आगे चलकर एक महत्त्वपूर्ण वास्तविकता का रूप धारण कर सकती है। इसमे वह बीज है जो भविष्य मे प्रच्छाय शीतल अश्वत्थ वृक्ष का रूप धारण करेगा? या रह जायगा बस कुकुरमुत्ता होकर। पर 'उत्तराधिकारी' का लेखक तो एक मँजा हुआ खिलाड़ी है, कथा के क्रीड़ा-क्षेत्र मे इसके कुछ ऐसे स्ट्रोक्स है कि दर्शक के मुख से अनायास ही हर्ष-ध्वनि निकल पड़ती है कि कही स्मित हास से, कही अर्ध-हास से, 'साध्व कष्टमेव च' से, कहीं प्रवृद्ध नाद से इनके कथा-साहित्य का स्वागत हो चुका है।

यह कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं कि 'उत्तराधिकारी' की कहानियाँ दैनिक जीवन की कठोर वास्तविकता पर खड़ी की गई है। यशपाल जी उस सम्प्रदाय के कथाकारो में हैं जिनको हवा मे तैरने वाली अशरीरी और काल्पनिक जगत् से अधिक इस दुनिया की मिट्टी पर ही पैर जमाये रखकर यहाँ के कार्य-कलापो का ही वर्णन अधिक प्रिय है। प्रथम कहानी मे एक मनुष्य अपने धन के एक उत्तराधिकारी की चाहना के कारण एक ऐसे पुत्र को भी स्वीकार कर लेता है जिसको उसकी स्त्री ने निश्चित ही अवैध रूप से प्राप्त किया है। शिक्षण-सस्थाओ मे जाब्ते की कार्यवाही के नाम पर क्या-क्या अनर्थ होते हैं और किस तरह आत्मा की आवाज का गला घोटा जाता है, यही दूसरी कहानी का वर्ण्य विषय है। 'अग्रेजो का घुँघरु' नामक तीसरी कहानी में अंग्रेजो को देवता समझने वाले भोले-भाले ग्रामीण के मनोभावो का चित्रण है।

'अमर' मे नारी-सौन्दर्य की अमर स्फूर्तिदायकता का वर्णन है। 'चन्दन महाशय' मे आजकल की राजनैतिक चालबाजियो का पर्दाफाश किया गया है। 'कुल-मर्यादा' मे स्त्रियो को पर्दे मे रखने वाली प्रथा पर एक मीठी चुटकी ली गई है। 'डिप्टी साहब' मे कथा के बहाने सन्तति-निग्रह का समर्थन किया गया है। 'हार की जीत' मे यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी क्षणिक आवेश मे आकर भीड़ किस तरह पाशविकता के अत्याचारपूर्ण कर्मो मे प्रवृत्त हो सकती है और साथ ही ठडे दिल से सोचने पर नारी मे कितनी उदारता के भाव जग सकते है।

ऊपर की पंक्तियो मे आलोच्य कहानी-संग्रह की कहानियो के वर्ण्य विषय का एक महज सूखा सा रेखा-चित्र देने का प्रयत्न किया गया है। इससे स्पष्ट है कि कथाकार की प्रतिभा अब व्यापकता की ओर बढ रही है। यशपाल की अब तक जो कहानियाँ थी उनमे प्रधान कण्ठ-स्वर रोटी और मिथुन-भाव का था मानो शिश्नोदरवाद ही मानव-जीवन की एक-मात्र नही तो अन्यतम वस्तु अवश्य हो। पर इस पुस्तक मे यह बात नही है। अधिकाश कहानियाँ तो ऐसी है जिनका इन बातो से कुछ भी सम्बन्ध नही है। पर एक-दो कहानियो मे जो इसकी झलक आई भी है, उस पर पाठक की दृष्टि अधिक देर ठहर नही पाती, वे अपनी ओर पाठको की दृष्टि को केन्द्रित नही कर पाती। 'उत्तराधिकारी' और 'हार की जीत' अथवा 'अमर' ऐसी ही कहानियाँ है। 'उत्तराधिकारी' का प्रारम्भ अवश्य होता है मानव की चंचल प्रवृत्तियो से, पर अन्त मे वह वात्सल्य में परिणत हो जाता है। 'हार की जीत' के पूर्वार्द्ध मे भी मनुष्य की काम-वासना प्रबल-सी जान पड़ती है। पर मानव-हृदय में कितनी उदारता की क्षमता है इस संवेदन की चोट अन्त मे आते-आते पाठक के हृदय पर पड़ती है तो उसका हृदय धुले हुए आकाश की तरह साफ हो जाता है। यह प्रवृत्ति यशपाल जी मे और प्रकारान्तर से हिन्दी के कथा-साहित्य मे पनपती हुई एक नूतन और स्वस्थ प्रवृत्ति की सूचना है और इस क्षेत्र मे अनेकानेक उच्च प्राप्तियो की सम्भावना है। कोई भी हिन्दी का हितैषी इस प्रवृत्ति का स्वागत करेगा। कुछ निरुत्साहजनक परिस्थितियो तथा तज्जनित निराशोत्पादक प्रवृत्तियो को देखते रहने पर भी हिन्दी-साहित्य और हिन्दी के लेखको मे मेरा अटूट विश्वास है। गोपियो ने उद्धव से कहा था कि 'ब्याहो लाख धरो दश कुबरि अन्त हि कान्ह हमारो' अर्थात् हे उद्धव! कृष्ण चाहे लाखो प्रेमिकाएं बना ले, दस-कुबरियो को भी पटरानी क्यो न बना ले, पर उनमे एक ऐसी आन्तरिक विवशता है जो उन्हे हमसे अलग नहीं होने देगी। उसी तरह कुछ परिस्थितियो में पड़कर हमारे हिन्दी-साहित्य के लेखक का आर्य हृदय एक क्षण के लिए दूसरे विरोधी कैम्प मे भले ही चला जाय, पर वह अपने घर के शान्त वातावरण मे आने के लिए बाध्य है। लेखक स्वयं भले ही यह महसूस न कर रहा हो, पूछने पर वह कहे भी कि ऐसी बात नही। यदि उसके सामने यह कहा जाय कि तुममे एक परिवर्तन हो रहा है तो वह इस कथन का विरोध भी कर सकता है, ठीक उसी तरह जैसे मनोविश्लेषक डॉक्टर की कुछ गुह्य और निन्दनीय-सी लगने वाली सूचनाओ को मानने के लिए रोगी तैयार नहीं होता। पर जितनी ही उसमे विरोध की मात्रा होती है उतनी ही वह बात ठीक भी होती है। 'उत्तराधिकारी' को पढकर मेरी यह धारणा अवश्य बँधती है कि अब हिन्दी के इस कथाकार मे स्वस्थ प्रवृत्तियो का उदय हो रहा है।

कथा-क्षेत्र मे ही यह परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, प्रत्युत कविता के क्षेत्र मे भी

अनेक कवियो की काव्य-धाराओ मे भारतीय संस्कृति के सम्पर्क मे अधिक समीप आने की प्रेरणा जग रही है।

जब से हमारे साहित्य मे यथार्थवाद का प्राधान्य होने लगा है और लेखक मनुष्यो की यथार्थ मनोवृत्तियो के चित्राकन करने की ओर झुके है तब से एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित होने लगा है। यह अवश्य है कि साहित्य के लिए एक अपार क्षेत्र का उद्घाटन हुआ है और वह कुछ धीरोदात्त-गुण-समन्वित पात्रो तथा विषयो की सीमा के अन्दर ही चक्कर काटने वाला प्राणी नही रह गया है। किन्तु इतना होने पर भी उसका दारिद्र्य दूर होता-सा दिखलाई नहीं पडता। उसमे थोड़ी उछल-कूद की मात्रा भले ही बढ़ गई हो और वह हल्के मूड वालों को थोड़ी तसल्ली देकर लोकप्रिय भले ही बन जाय, पर जो व्यक्ति हंस-गति और गज-गति की मस्ती तथा आभ्यन्तर—समृद्धता-का प्रेमी है उसे तो इसमे कोई विशेष उत्साहजनक बात दृष्टिगोचर नही होती। इसका कारण है कि हम भूल जाते है कि कथाकार एक सृजनशील कलाकार होता है, उसके क्षेत्र मे आत्म-दान का ही महत्त्व होता है। जो साहित्यिक विश्व से लेता है अधिक और देता है कम उसका दान सात्विक दान नहीं होता और वह दानी और दान ग्रहण करने वाले दोनो पक्षो को नरक मे गिराने वाला होता है। हमने देखा कि चोरबाजारी का घाव समाज के हृदय पर ताजा है, भारत के विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिक अग्नि की लपटो का धूम्र-समूह अभी समाज की छाती पर बैठा ही है, अकाल के ताण्डव की स्मृति मुँह बाए खड़ी है, मिथुन-भाव के अवाछनीय दमन से जीवन मे सड़ाँद पैदा हो गई है। इनकी या इनकी तरह के अन्य कितने ही विषयो की हमे प्रत्यक्षानुभूति होती है, दिन-रात हमे और हमारे साथियो को इनका सामना करना तथा शिकार होना पड़ता है; बस हमने इनको ही इधर-उधर के कुछ शब्दो के सहारे लिपिबद्ध करके कहानी के रूप मे ढाल दिया। ऐसा करना टकसाल से अभी-अभी निकली चमचमाती हुई खोटी दुअन्नी को चलाकर सौदा खरीद लेना है और यह क्रिया कभी भी सराहनीय नही कही जा सकती। कुछ निराली प्रकृति के मनुष्य होते हैं, जो तेल की गरम-गरम पकौड़ी के लिए घी की कचौड़ी का भी परित्याग कर देते हैं। पर हम साहित्यिक विवेचन के अवसर पर ऐसे लोगो की बाते नहीं करते, हम ऐसे लोगो की बाते करते हैं जिनका चित्त स्वस्थ है, मस्तिष्क दुरुस्त है और हृदय तरो-ताजा है।

मनुष्य की अनुभूति का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत किया जा सकता है और यथासम्भव उसकी सीमा का विस्तार करने के लिए सचेष्ट रहना ही चाहिए। पर अनुभूति-विस्तार और साहित्यिकता ये दोनो एक ही पदार्थ नही। प्रत्यक्षानुभूति का थोड़ा-सा ही ऐसा अंश होता है जिसमे मनुष्य की कल्पना को जगाने की शक्ति होती है, जो अनुभावयिता के व्यक्तित्व की अतल गहराई मे प्रवेश करके वहाँ की सृजनात्मक चिनगारी को सुलगा देता है। प्रत्यक्षानुभूति का यही अंश वास्तविक साहित्य का उपजीव्य हो सकता है। प्रत्यक्षानुभूति का कितना अंश इस गौरव का अधिकारी हो सकता है यह व्यक्ति की निजी रहस्यमयी प्रतिभा पर निर्भर करता है, जिसका विश्लेषण नही हो सकता।

ऊपर जो पंक्तियाँ लिखी गई हैं उनका उद्देश्य यह है कि लेखक को वर्ण्य विषय की आन्तरिक शक्ति से अधिक अपनी सृजनात्मक प्रतिभा पर विश्वास रखना चाहिए। जब हम लेखक को वर्ण्य विषय के सामने आत्म-समर्पण करते या जिस अनुपात मे करते देखते हैं उतनी ही उसे दयनीय समझने की भावना उत्पन्न होती है। यशपाल जी की अधिकांश कहानियो मे

हम यही त्रुटि पाते है। इनकी घटनाएं इतनी ताजी है, इतनी गरम है कि वे पाठको के ध्यान को एकदम अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, कथाकार की सृजनात्मक शक्ति की ओर देखने की उन्हे फुरसत मिलती ही नही। हम तो लेखक के आत्म-दान के भूखे थे, हम कथा पढने इसलिए आए थे कि वहाँ हम हृदय रस से लबरेज प्याले की घूँट से अपनी प्यास बुझा सके, वरना घटनाएं तो रोज ही देखने को मिलती थी। चन्दन महाशय की, दत्ता साहब की, नाजू की, घुँघरू वाले डाकिये की, गंगाधर की तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ की कमी थोडे ही है। कमी है तो केवल आत्म-दान की, जो स्वच्छ और शुद्ध मन से स्वच्छन्दतापूर्वक हृदय खोलकर किया जाता है। पहाडी जी की एक कहानी है 'गेदा'। गेदा पान बेचा करती थी, पर पान के साथ अपने गाहको को एक मुस्कान भी सौप देती थी, उसकी दूकान पर भीड़ लगी रहती थी। मुझसे कोई पूछे तो कहूँ कि भीड क्यो न हो, पान तो एक पैसे का होता है पर मुस्कान तो लाख रुपये की होती है न। लोग तो मुस्कान के भूखे होते है, पान तो मुस्कान पाने का एक बहाना-मात्र है।

मेरा खयाल है लेखक कभी भी दुनिया के साथ पैर से पैर मिलाकर नही चल सकता। मैंने कहा लेखक अर्थात् Writing self पूरा मनुष्य नही, पूजा करने वाला, व्यापार करने वाला, वोट देने वाला सम्पूर्ण यशपाल नही, यशपाल का वह अंश, जो लेखक है, कथाकार है, साहित्य स्रष्टा है। आजकल एक लुभावना और मोहक तर्क दिया जाता है कि आज जब कि आर्थिक वैषम्य तथा मैथुनिक दमन के कारण मानव-सभ्यता संकटापन्न हो विनाश के किनारे आ लगी है तो उस समय सहिष्णुता का अवसर कहाँ है? साहित्य-स्रष्टा (यहाँ कथाकार) को भी युद्ध मे सम्मिलित होना ही पडेगा, एक पक्ष का साथ देना ही होगा। ठीक है जब रोम जल रहा हो तो नीरो की तरह वीणा-वादन मे तल्लीन न होकर कथाकार को भी बाल्टी मे पानी भरने अथवा पानी की दमकलो को पुकारने दौड पडना चाहिए। पर यह काम सम्पूर्ण मानव (Whole man) का है, Writingself का नही, जो उसका एक अंश है। वह बाल्टी मे पानी नही भर सकता और Mobilisation की सारी चेष्टाओ का तो वह घोर विरोध करेगा। उसी तरह इस तरह के तर्क देते समय अंग्रेजी के एक और शब्द Ivory Tower (स्फटिक मीनार) का प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि जो लोग लेखक से एक ही चीज की माँग करते हैं कि वह अपनी विधायक कल्पना के प्रति वफादार रहे और इसे किसी भी अवान्तर स्वार्थ की बलि पर बलिदान न करे वे Ivory Tower सम्प्रदाय के हैं, वे लेखक को इस दुनिया का जीव न रहने देकर कल्प-तरु का निवासी बना देते है और लेखक तथा इस ससार के प्राणी मे एक कृत्रिम पार्थक्य ला देते हैं। पर नही, ऐसी बात नहीं है। लेखक पर भी दुनिया की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो का प्रभाव पड़ता है, वह भी अन्य लोगो की तरह ईर्ष्या या द्वेष का शिकार होता है। पर जब वह लिखने बैठता है तो उसमे थोड़ा-सा पार्थक्य आ जाना स्वाभाविक ही है और जिसे आ जाना चाहिए भी। जब हम पूजा करने बैठते है तो अपने को दुनिया से अलग करके एक शान्त वातावरण-पूर्ण कमरे मे बन्द नही कर लेते क्या? इसे आप कृत्रिम पार्थक्य कहेंगे क्या? मैं पूछूँ कि साहित्य-सृजन पूजा करने से कम महत्त्वपूर्ण कार्य है क्या? आप Ivory Tower या कल्पतरु के नीचे निवास भले न करे, पर आपको लिखते समय वहाँ चला जाना चाहिए। Flanbert आजकल कुछ अति आधुनिक विचार वालो के लिए प्रिय नहीं रह गया है पर ये कुछ शब्द मनन करने योग्य है: Let us shut our door, let us climb to the top of Ivory Tower, to the last step,

the nearest to the heaven It is cold there, some times, isn't it? But who cares! One sees the stars shine clear and no longer hears the Turkey-Cocks.

अर्थात् हम अपने दरवाजे बन्द कर ले और अपनी स्फटिक मीनार के सबसे ऊँचे शिखर पर चढ जायं, जो स्वर्ग से सबसे अधिक समीप हो। माना कि वहाँ कभी-कभी अधिक ठंड पड़ती है, पर परवाह क्या है ? सितारो की जगमगाहट तो दिखलाई पड़ती है और मुर्गो की कर्ण कटु ध्वनि से जान तो बचती है। आप भले ही दुनिया से अनुभव प्राप्त करे पर स्फटिक मीनार पर बैठकर ही पता चलेगा कि आपके अनुभव का कितना अंश आपके जीवन मे घुल-मिल सका है, आपके व्यक्तित्व की गहराई मे प्रवेश करके आपकी कल्पना को Festilise कर सका है। युधिष्ठिर जब हिमालय पर्वत की ऊँचाई पर चढ़ने लगे तब उन्हे पता चला कि दिन-रात दुःख-सुख मे साथ देने वाले, यहाँ तक कि एक पत्नी की सेवाओ पर भी साझा रखने वाले भाई वहाँ साथ न दे सके। साथ दे सका तो एक बेचारा कुत्ता। उसी तरह आप कह सकते हैं कि एक किसान को दिन-रात की भूख की पीड़ा तथा राजनीति के हथकण्डे के संकेत के ऊपर नाचते रहने पर भी वे उसकी सृजनात्मक प्रतिभा को छू न सके हो। ठीक इसके विपरीत एक फाख्ता की सुरीली आवाज या रमणी की मुस्कान ने उसके व्यक्तित्व के उस केन्द्र मे प्रवेश कर लिया है जहाँ से सृजन का आरम्भ होता है।

वास्तव मे देखा जाय तो संस्कृति, सभ्यता, तथा मानवीय मूल्यो को खतरा अपने शत्रुओ से नही, जो ताल ठोककर, ललकारकर इनकी हस्ती को मिटा देना चाहते है। सभ्यता स्वयं ही असभ्यता की और सस्कृति असंस्कृति की, मानवता अमानवीय मूल्यों की सबसे विरोधिनी है, और वह अपनी शक्ति से उसे परास्त कर देती है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास के पढने वालो से क्या यह बात छिपी है कि कितनी ही बर्बरताओ ने आक्रमण किया, इसे कहने को जीत भी लिया; पर अन्त मे दुर्दान्त विजेताओ को भी इसके हाथो पालतू मेमना बन जाना पड़ा ? सातो समुद्रो को पार करने वाला, काबा और जमजम मे भी न अटकने वाला दीने-इलाही का बेबाक बेड़ा गंगा के दहाने मे आकर डूब ही गया था न कि और कुछ ? नही, ये शत्रु तो प्रकारान्तर से मित्र ही है। वास्तविक शत्रु वे हैं जो हित की कामना से प्रेरित होकर अनेक लुभावने तुर्काभास के द्वारा संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने के ध्येय से उसके सबसे बड़े आधार-स्तम्भ अर्थात् कलाकार की स्वतन्त्रता, उसकी शक्ति, उसके मानसिक संतुलन पर ही कुठाराघात करते है।

चला था 'उत्तराधिकारी' की समीक्षा करने और साहित्य-स्रष्टा की अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू पर लेक्चर दे गया। कारण यह नहीं कि 'उत्तराधिकारी' की संगृहीत कहानियो से मेरी कोई खास शिकायत है। नहीं, कहानियाँ उच्चकोटि की है। कहावत है 'सरलो तेली तो कमर मे अधेली' अर्थात् तेली कितनी भी दरिद्रावस्था को प्राप्त हो जाय पर तो भी उसकी कमर मे अधेली होगी ही। अध्ययन की दो पद्धतियाँ हैं, या तो इतिहास के माध्यम से साहित्य का अथवा साहित्य के माध्यम से इतिहास का। यदि हम दूसरी पद्धति के पक्षपाती हो तो यशपाल का कथा-साहित्य, जिसमे 'उत्तराधिकारी' सबसे नवीनतम कृति है, इसका उत्तम साधन है। आधुनिक युग की गति-विधि, उसकी राजनीति, उसके सामाजिक आचार-विचार का एक ऐसा परिचायक कहाँ मिल सकता है। पर्दा-प्रथा की बुराइयो का पर्दा-फाश करने वाला कुल की मर्यादा से बढ़कर और

कौन हो सकता है। पर इसमे आधुनिक घटनाएं-ही-घटनाएं तो हैं, लेखक कहाँ है, पता नही चलता, उसकी कल्पना कहाँ है। जो-कुछ दान हो रहा है वह इन बाह्य घटनाओं की ओर से हो रहा है, लेखक की गाँठ से तो कुछ भी खर्च नही हो रहा है।

सृजनात्मक व्यापार की वास्तविक प्रक्रिया क्या है, इस सृजन-व्यापार मे संलग्न मानस मे क्या-क्या व्यापार होते है यह एक लम्बा अवान्तर प्रसंग हो जायगा। पर यूरोपीय कथाकारो के कुछ उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे पता चल सकता है कि बाह्य संसार से मिली घटनाओं का सूक्ष्म बीज किस तरह की मिट्टी और वायु से रस खीचकर एक विशाल वृक्ष के रूप मे परिणत हो गया। हेनरी जेम्स ने अपनी Prefaces मे अपने उपन्यासो के निर्माण का इतिहास पूर्ण रूप से लिखा है और बतलाया है कि प्राप्त कच्ची सामग्री को परिपक्व उपन्यास के रूप मे तैयार करने मे उनके मानस मे कौन-कौन-से व्यापार हो सकते है। हिन्दी मे इस तरह का इतिहास प्राप्त नही है। केवल एक जगह प्रेमचन्द ने कहा है कि 'रंगभूमि' का बीज मुझे एक अन्धे भिख-मगे से मिला था। यहाँ मार्शल प्रुस्ट की कथा की कहानी कह रहा हूँ। इसलिए नही कह रहा हूँ कि मार्शल प्रुस्ट के साहित्य का मैने अध्ययन किया है, परन्तु कुछ तो इसलिए कि अब हिन्दी मे इनका नाम लिया जाने लगा है, कुछ इसलिए कि मैने भाग्य से वह कहानी पढ़ी है और विशेषतः इसलिए कि इस कहानी और यशपाल की एक कहानी मे विचित्र साम्य है। एक M. Ventenil नाम की लड़की है। उसका पिता फ्रास का श्रेष्ठ गायक था। पुत्री पर उसे नाज था, पुत्री भी उसे प्यार करती थी। उसका एक प्रेमी है, पर उसके प्रेम करने का ढंग विचित्र है, जिसको राक्षसी क्रूरता को देखकर हृदय दहल जाता है। वह प्रणय व्यापार के पूर्व अपने पिता के चित्र को सामने रखकर बार-बार कहती है कि "यदि वह हम लोगो को अभी देख ले तो क्या कहेगा" और ऐसा कहकर अपने प्रेमी को उस चित्र का तरह-तरह से अपमान करने के लिए, यहाँ तक कि उस पर थूकने के लिए उत्तेजित करती है। इस कहानी का सूत्र कहाँ मिला, इसकी कथा मालूम है। मार्शल प्रुस्ट एक सज्जन को जानते थे, जो अपनी स्त्री और बच्चो के प्रति अनुरक्त रहते भी एक दूसरी महिला से प्रेम करते थे और जब भी उस प्रेमिका के पास जाते अपनी पत्नी और बच्चो की चर्चा अवश्य करते। यहाँ तक कि वह तंग आ गई और झल्लाकर कहा, "क्या तुम मेरी बीबी, मेरी बीबी, मेरे बच्चे, मेरे बच्चे, करते रहते हो" उन्होंने कहा "तब मै उन्हे क्या कहकर पुकारूँ ?" उसने कहा, "अरे कहो राक्षसी-राक्षसी और राक्षसी के बच्चे।" इस घटना ने लेखक के मस्तिष्क मे जाकर इस कला-पूर्ण कहानी का रूप धारण किया। पर लेखक ने एक ओर पात्रो को पतन के अतल गह्वर मे गिराया तो दूसरी ओर उन्हे उच्चता के हिम-शिखर पर चढ़ा दिया। जब इस प्रणयी युग्म पर जो भूत सवार था वह उतर गया और इन लोगो के मन मे अपने दुष्कृत्यो पर प्रायश्चित्त के भाव जगे तो वे अपने पिता के कागजातो को ढूँढकर कुछ ऐसी ध्वनियाँ प्रकाश मे लाये जिनके सामने उसका सर्वश्रेष्ठ सगीत भी फीका मालूम पड़ता था। इस तरह वह फ्रास के इतिहास मे अमर हो गया। यह हम कच्ची सामग्री को एक महान् कलाकार की कल्पना से होकर निकलते देख रहे है। उसी तरह यशपाल की एक कहानी है 'हलाल का टुकड़ा'। एक वेश्या है, वह भी यही क्लास की। रात मे यमुना के पुल के नीचे किसी से पैसे के लिए झगड़ रही है। तब कांग्रेस के एक मंत्री कांग्रेस के गैर कानूनी घोषित हो जाने के कारण कुछ कागजात और ४० हजार रुपये लेकर भागे जा रहे हैं। वे इस वेश्या की घटना मे बीच-बचाव कर ही रहे थे कि पुलिस आ जाती

है और वे अपना सारा सामान उस वेश्या की टोकरी मे फेककर भाग जाते है। बाद मे परिस्थिति की गम्भीरता का खयाल आता है और खोजते-खोजते वे उस नारकीय स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ वह वेश्या रहती है। वेश्या कहती है : "जाओ उस टोकरी मे पड़ा है, उठा ले जाओ। मैं दूसरो की कमाई पर लार नही टपकाती।" यहाँ कहानी का कंकाल मात्र ही दिया जा सका है। उसका पूरा रस नही आ सकता, पर फिर भी जीवन के खण्डहर मे मानवता की दिव्य ज्योति चमक रही है। यह देखकर मनुष्य की भागती आस्था लौट आती है और उसके भविष्य मे विश्वास जग उठता है। यह एक कहानी है जो Human से अधिक Divine है, जो फिलहाल डुबाती-सी भले ही दीख पडे, पर पार भी वही करती है। इससे पता चलता है कि कथाकार मे प्रतिभा का अभाव नही है।

पर 'उत्तराधिकारी' की अधिकाश कहानियो मे इस सृजन, इस आत्म-दान, इस आत्माभिव्यक्ति की झलक का दर्शन नही कर पाते कि हम लेखक के प्रति कृतज्ञता के भाव से झुक जायं। यह कहकर मैं 'उत्तराधिकारी' के साथ अन्याय-सा करता होऊँ, पर यशपाल जी की कहानियो का अथवा आज की हिन्दी की कहानियो का मूल्याकन करते साधारण मापदण्ड से काम लेना भी तो न्याय नही होता। यशपाल जी ने सैकड़ो कहानियाँ लिखी है। उनकी कल्पना (Vision) मे विस्तृति पर्याप्त मात्रा मे आ गई है। अब तो उन्हे ठहरकर उन्हे पचाना ही है, उन्हे अपना बनाना है, अपनी कल्पना को Intensity के मार्ग की ओर प्रेरित करना है। दूसरे शब्दो मे दुनिया को छोड़कर अपनी गहराई की ओर झाँकना है, तभी उनकी कला मे आढ्यता आयगी, समृद्धि आयगी। यो वह दुनिया के पीछे-पीछे क्यो मारे-मारे फिरे। हमे ऐसा लगता है कि वे आत्म-शक्ति से अधिक ससार पर विश्वास करने के मोह से अपने को मुक्त नही कर सके है।[1]

विजयेन्द्र स्नातक

'समस्या का अन्त' और 'शक-विजय'

'समस्या का अन्त' श्री उदयशंकर भट्ट के नौ एकाकी नाटको का संग्रह है। जीवन की विषमता को चित्रित करने के साथ लेखक ने इस नाटक मे समस्याएं प्रस्तुत करके उनके समाधान की ओर संकेत किया है। मानव-जीवन की अनेकरूपता और विशदता के अंकन मे जिस सूक्ष्मेक्षिका और कारयित्री प्रतिभा की आवश्यकता होती है वह लेखक के पास प्रचुर परिमाण मे है। इसलिए कथावस्तु के साथ चरित्रो का निर्वाह इनमें समीचीन रूप मे हुआ है। नौ नाटक नौ प्रकार की विभिन्न मानव-प्रवृत्तियो के परिचायक होने के साथ मानव-मन के सघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की आकर्षक झाँकी भी प्रस्तुत करते है। विचार-वैषम्य मानव-जाति मे आदियुग से चला आ रहा है, और यही सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक संघर्षों का प्रेरक या उत्पादक रहा है। सफल कलाकार वह है जो वैषम्य-जनित इन द्वन्द्वो के आरोह-अवरोह को हृदयंगम करके उनको कला का

---

१. लेखक—यशपाल, प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ।

विषय बना सके। मात्र कल्पना द्वारा इस प्रकार का अंकन सम्भव नहीं, [illegible] पर लेखक को मानव-जीवन के उन गुह्य स्तरो मे प्रवेश करना होगा जहाँ [illegible] समस्त दुर्बलताएं और शक्तियाँ छिपी रहती है। मनुष्य-स्वभाव कुछ [illegible] है कि वह अपनी दुर्बलताओ को जानकर भी उनके प्रति अज्ञान बना रहना चाहता है और इस प्रकार की [illegible] बुद्धि रखने से वे कमजोरियाँ स्वयं उसे दुर्बोध प्रतीत होने लगती है। अपनी दुर्बलताओं के [illegible] की बात तो दूर, उनके प्रति संकेत करने का भी हमारा साहस नहीं होता। 'समस्या का अन्त' के एकाकी नाटक बडी ही मार्मिक एव व्यंग्यपूर्ण शैली से हमारा ध्यान इस प्रकार की समस्याओं की ओर आकृष्ट करते है। समस्याओ के प्रस्तुत करने मे लेखक का दृष्टिकोण [illegible] रहा है। नाटको के अन्तराल मे निहित उद्देश्य को व्यक्त करने मे [illegible] प्रत्येक घटना और प्रसग बुद्धिगम्य होने के साथ-साथ मोहक भी बना हुआ है। [illegible] का उद्देश्य—मेरी अपनी दृष्टि मे—जहाँ समस्या के प्रति पाठक या दर्शक का [illegible] है, उसे समस्या के बाह्य एवं अभ्यन्तर स्वरूप से परिचित कराना है वहाँ [illegible] के लिए प्रेरणा प्रदान करना भी है। यथार्थ एव सोद्देश्य नाटक मे घटनाओं के [illegible] गति-विधि के परिचालन मे इस बात का ध्यान रखकर ही लेखक को चलना चाहिए। [illegible] मूलक नाटक की सफलता का चरम विन्दु है। हर्ष का विषय है कि [illegible] के नाटकों मे लेखक को स्थल-स्थल पर उत्कर्ष के इस चरम-विन्दु को स्पर्श करने का [illegible] है।

'समस्या का अन्त' इस संकलन का पहला नाटक है। [illegible] नामकरण हुआ है। श्रुत-बुद्धि और माणविका इस एकाकी के दो प्रमुख पात्र है। [illegible] जाति की है और माणविका वामरथ। भद्रक और वामरथ जाति मे [illegible]। [illegible] कन्या होने पर भी माणविका, भद्रक श्रुत-बुद्धि से प्रेम करती है। [illegible] वह अपने प्रेमी से मिलने आती है और अपने सहज स्नेह को पाती है। इन दोनों की प्रणय-लीला प्रकाश मे आते ही दोनो जातियो के संग्राम का कारण बनती है। युद्ध छिड़ने पर दोनों जातियो के विनाश का दृश्य उपस्थित होता है। संघर्ष और सर्वनाश के कगार पर खड़ी दोनों जातियो को माणविका अपना बलिदान देकर—स्वयं अपने हाथो अपना सिर काटकर—बचा लेती है। माणविका का आत्मोत्सर्ग दो जातियो के विनाश की समस्या का अन्त प्रस्तुत करके त्याग और बलिदान का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। भद्रको की वधू और वामरथो की कन्या माणविका दो जातियो के चिर-विरोध की प्रचण्ड वह्नि को आत्मोत्सर्ग के शीतल जल से शान्त करके नाटक मे नवजीवन-संचार करने मे समर्थ है। उसका उत्सर्ग सभी दृष्टियो से अपूर्व, अद्भुत एवं आकर्षक है। उद्दाम प्रेम और उदात्त त्याग का जो चित्र इस स्थल पर लेखक ने अंकित किया है वह सर्वथा मार्मिक एव कलापूर्ण है।

'जीवन' शीर्षक एक संकेतात्मक प्रतीक-रूपक इस सकलन की विशिष्ट रचना है। काम, यौवन, जरा, वासना, वसन्त, सौन्दर्य आदि इसके पात्र हैं जो अपने प्रकृत रूप के साथ भावो का भी स्पष्ट सकेत करते हैं। जीवन-विकास मे इन भावो और मनोविकारो का जो स्थान है उसे प्रतीकात्मक शैली से अभिव्यक्त करने की दिशा मे यह नाटक एक सफल प्रयास है। हिन्दी मे प्रतीक-रूपक नया प्रयोग नहीं है। कई लेखकों ने इससे पहले भी भावो या मनोविकारो का मानवीकरण करके उनकी जीवन-व्यापी सत्ता का चित्र अंकित किया है। इस नाटक मे मनोवैज्ञानिक

पद्धति से जो अभिव्यंजना की गई है वह सहृदय-संवेद्य होने के कारण ग्राह्य है। काम, यौवन, जरा और सौन्दर्य की उक्तियो में लेखक ने यथार्थ का जैसा परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है वह हिन्दी के अन्य प्रतीक-रूपको मे कम ही मिलता है। जीवन की परिपूर्णता में विवेक का जो स्थान है वही स्थान नाटक के कथानक मे भी विवेक नामक पात्र का है। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' के समझने के लिए विवेक-पात्र की उक्तियाँ देखने योग्य हैं। विवेक कहता है—"मैं चाहता हूँ, हम सब (काम, रति, यौवन, सौन्दर्य आदि) मिलकर युद्ध से पीड़ित वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों से जर्जरित, स्वार्थ से बहकी हुई हिंसा से धूसरित, क्रोध से जलती हुई सृष्टि को जीवन देकर सुख प्रदान करेंगे, मनुष्यता की रक्षा करेंगे।—'हमारा एक ही ध्येय होना चाहिए—मनुष्य-सृष्टि की रक्षा, मनुष्य-सृष्टि का सुख, 'मानवता, मानवता!'—" रस और आनन्द की अनुभूति के साथ इस नाटक मे लेखक ने विचार-विमर्श के सजीव स्थल उपस्थित किये हैं।

'बीमार का इलाज' एक व्यंग्यात्मक एकाकी है, जो अन्ध-विश्वास और मूढता के वातावरण को व्यक्त करने के साथ हमारे घरो की एक जीवित समस्या को सामने लाता है। घर मे किसी के बीमार हो जाने पर विभिन्न प्रणालियों की चिकित्सा को एक-साथ स्वीकार करने से जो विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है उसका चित्रण इसमे है। नाटक के कथोपकथन बड़े ही मनोवैज्ञानिक और भावपूर्ण हैं—पात्रो के विकास मे उनकी उक्तियाँ ही पर्याप्त है। इस विषम समस्या का समाधान बड़ी व्यंग्यात्मक शैली से लेखक ने डॉक्टर के इस कथन मे रखा है कि "मिस्टर कान्ति, मुझे इस घर मे सभी बीमार मालूम पड़ते हैं।"

'गिरती दीवारें', 'वापसी' और 'अतिथि' भिन्न कोटि के नाटक हैं। 'गिरती दीवारें' उन्नीसवी सदी के एक रूढ़ि-प्रिय, परम्परा-जर्जर अन्ध-विश्वासी रईस का सजीव वर्णन है। मर्यादा की अन्ध उपासना इस नाटक मे बड़े कौशल से व्यक्त हुई है। रूढ़ि-चुस्त दम्भी व्यक्तियो के चित्रण में कल्पना का चमत्कार देखने योग्य है। दो-एक स्थल पर कल्पना का अतिरेक भी हो गया है, किन्तु प्रसंग की अपरिहार्यता के कारण वह खटकता नही। लेखक का कवि-कर्म इस प्रकार के स्थलो पर उभर आया है। 'वापसी' शीर्षक नाटक मे स्वार्थी और धन-लोलुप चरित्रो के विकास मे लेखक ने प्रमुख पात्र के कल्पित मृत्यु-प्रसंग की उद्भावना की है। इस दृश्य की अवतारणा में लेखक की सूझ और दूरदर्शिता तो प्रकट होती ही है साथ ही नाटकीय पात्रों के चरित्र-विकास की प्रेरणा भी मिलती है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी एक कहानी 'प्रायश्चित्त' में इसी प्रकार की घटना को अंकित किया है। 'अतिथि' एक व्यंग्यात्मक प्रहसन है। इसमे तथाकथित उपदेशक तथा प्रचारक-वर्ग की लोभ-वृत्ति-जन्य कमजोरी को व्यंग्य एवं हास्य की मनोरम शैली से प्रकट किया गया है। लोभपरायणता को लेखक व्यंग्य नही रख सका, वह स्पष्ट और प्रत्यक्ष बनकर ही नाटक मे आई है। किन्तु समस्या का समवेत प्रभाव व्यंग्य ही है और उसी में नाटककार की सफलता है। यदि लोभ-वृत्ति को भी नाटककार व्यंग्य रख पाता तो नाटक बहुत ऊँचा उठ जाता। कदाचित् रेडियो-रूपक के होने के कारण वह उतना सूक्ष्म चित्रण नहीं कर सका। इस नाटक द्वारा निश्चय ही लेखक ने सम्बद्ध-वर्ग के ऊपर कठोर कशाघात किया है।

'पिशाचो का नाच', 'आत्मदान' और 'मन्दिर के द्वार पर' शीर्षक नाटकों मे कथानक, समस्या या समाधान की दृष्टि से कोई नवीनता नही है। अभिव्यंजना-शैली मे यत्किंचित् नूतनता अवश्य है, किन्तु वह इतनी आकर्षक नहीं कि नाटकों को अपने स्तर से ऊपर उठा सके। 'पिशाचों

का नाच' भारत-विभाजन के समय हुए उत्पात और दंगो का दृश्य उपस्थित करता है। अमानुषिक अत्याचारो का वर्णन लोमहर्षक होने के साथ यथार्थ है। 'आत्म-दान' नाटक शिक्षित वर्ग की आधुनिक स्त्री की भूल और उस भूल का परिमार्जन है। पति-पत्नी मे पारस्परिक सद्भाव और समर्पण की स्थापना के लिए लेखक ने 'सुषमा' की अवतारणा की है। सुषमा नाटकीय समस्या का समाधान बनकर आती है और दो व्यक्तियो के रागात्मक सम्बन्धो को स्थापित करने मे सफल होती है। सुषमा द्वारा सरला को उपदेश कोरा कर्तव्य-बोध है, जो सरलता से गले के नीचे नहीं उतारा जा सकता। लेखक ने उसे सहज-सम्भाव्य बना दिया है। लेखक उसे यथार्थ अंकन भले ही समझे, किन्तु उसे ज्यो-का-त्यो हृदयंगम करने मे एक हल्की-सी अटक—अड़चन अवश्य है। 'मन्दिर के द्वार पर' अस्पृश्यता या अछूतोद्धार की पुरानी समस्या है। कथानक मे किसी प्रकार की नवीनता नहीं—वर्णन के उद्देश्य की ध्वनि इतनी ऊँची है कि कला को काकली सुनाई ही नहीं देती। यथार्थ का स्थूल रूप इन तीनो नाटको मे उभरकर व्यवस्थित भी नहीं रह पाया है, फलतः सोद्देश्य होने के अतिरिक्त इन तीनो नाटको मे कोई विशेषता दृष्टिगत नही होती।

संक्षेप मे, 'समस्या का अन्त' अपनी मौलिकता और अभिनेयता के कारण ही नहीं वरन् अपनी अनेकरूपता और विशदता के कारण भी उपादेय है। अभिव्यंजना मे कला के सुन्दर अभिनिवेश के साथ लेखक ने यथार्थ का जो रूप खड़ा किया है वह सर्वथा श्लाघ्य है। प्रायः सभी नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हुए है अतः दृश्य-विधान के स्थान पर लेखक ने अनेक स्थलो पर ध्वनि को प्रधानता दी है, अपने प्राक्कथन मे लेखक ने इसका परिष्कार प्रस्तुत कर दिया है। हिन्दी मे एकाकी-नाटक-कला का विकास हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ। इस सीमित काल मे ही जिन लेखको ने एकाकी-कला को परिपूर्ण बनाया है, श्री उदयशंकर भट्ट का नाम उनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एकाकी-नाटक विस्तार की दृष्टि से मर्यादित होता है; इसलिए सफल कलाकार वही है जो उन सीमा-मर्यादाओ का निर्वाह करते हुए घटना-चक्र और चरित्र-विकास को पूर्णता दे सके। 'समस्या का अन्त' इस दृष्टि से सफल कृति है और वह एकाकी-नाटक-कला मे यथार्थ, उद्देश्य और मनोविज्ञान का समवेत प्रभाव करने मे अभिनव है।

भारतीय इतिहास की आज से दो सहस्र पूर्व की घटनाओ के सम्बन्ध मे इतिहासज्ञो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल और गण-राज्यो का द्वन्द्वात्मक-संघर्ष चिरकाल तक विद्वानो को एक अजीब उलझन मे फँसाये रहा। वे यह निश्चय न कर सके कि इस काल की घटनाएं गाथा हैं या तथ्य। विक्रम सम्वत् की स्थापना के विषय में भी इसी प्रकार की सन्देह-शंका-पूर्ण स्थिति बनी रही और इस युग को अनेक विद्वान् संक्रमण-काल समझकर उपेक्षा-बुद्धि से देखते रहे। फलतः इस युग पर अन्धकार का धूमिल कुहासा स्तर-स्तर करके जमता आया है। हर्ष का विषय है कि वर्तमान युग की नवीन ऐतिहासिक शोध ने इस युग की घटनाओ पर पड़ी हुई अन्धकारपूर्ण यवनिका को हटा दिया है और आज यह युग अपने अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो एवं क्रान्तियो के कारण भारतीय इतिहास का आलोकमय युग बन गया है। विक्रम सम्वत् की स्थापना और भारत से विदेशी शक, हूण जातियों का निष्कासन अब एक विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया जाता है। भारतवर्ष पर शको के आक्रमण तथा उनकी जय-पराजय को इधर कई लेखको ने अपने नाटक का विषय बनाकर इस गौरव-गाथा को प्रस्तुत किया है, मालव गणतन्त्र की पुनःस्थापना और उसके मार्ग में अन्तराय रूप उपस्थित छोटे-मोटे राज्यों का उत्थान-पतन

भी इस युग की कहानी को विपुल घटना-संकुल बना देता है। सचमुच ही यह युग भारत के विशृङ्खल, विद्वेषपूर्ण वातावरण की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ वीरता, एकता और सीमित राष्ट्रीयता के स्फुट प्रसंगों का परिचय देकर हमें मुग्ध किये बिना नहीं रहता। ज्यों-ज्यों इस काल की गौरव-गरिमा पाठक के सामने आती है त्यों-त्यों वह औत्सुक्य, कुतूहल और उत्साह के साथ इस युग के अन्तराल में छिपे बलिदानों और पराक्रमों को जानने के लिए ललक उठता है।

श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने 'शक-विजय' नाटक में इसी युग को भाव-भूमि बनाया है। नाटक के नामकरण में ही लेखक ने इस प्रश्न का समाधान रख छोड़ा है कि पहले भारत पर आक्रान्ता शकों की विजय हुई और बाद में भारतीयों ने उन्हें विजय किया इसलिए 'शक विजय' का अर्थ करते समय 'शकों की भारत पर विजय' और 'शकों पर भारतीयों की विजय' दोनों ही अर्थों का ग्रहण करना चाहिए। नाटक का प्रारम्भ किसी औत्सुक्यपूर्ण घटना द्वारा न होकर स्वाभाविक शैली से हुआ है। पाठक के अन्तरमन में उसके द्वारा उद्वेग की सृष्टि नहीं होती, किन्तु ज्यों-ज्यों नवीन पात्र सम्मुख आते हैं अपने चरित्र-विकास के साथ घटना या कथा-विकास को तरल बनाकर नाटक में तीव्र गति भरते जाते हैं। नाटक की मूल कथा के साथ पात्रों का चरित्र-विकास इतना सश्लिष्ट है कि किसी भी पात्र की अवतारणा न तो अस्थानीय है और न अस्वाभाविक। परिमित कलेवर रखने के कारण घटना, पात्र, चित्रण सभी कुछ मर्यादित और सुसम्बद्ध हैं। एक भी दृश्य नाटक में ऐसा नहीं कहा जा सकता जो अतिरंजित या सीमाक्रान्त होकर कथा-वस्तु को शिथिल या नीरस बनाता हो। नाटकीय वस्तु-विन्यास के लिए लेखक ने जिन अनैतिहासिक पात्रों की कल्पना की है उनके अस्तित्व की आधार-शिला इतनी सुदृढ़ है कि नाटक में वे आद्योपान्त अपने प्रभाव और उत्कर्ष के कारण पर्वत की भाँति उच्च और अटल दृष्टिगत होते है, फलतः पाठक या दर्शक उनके विषय में इतिहास की साक्षी माँगना भूल जाता है। कथा का मूल संकेत तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की ओर है। प्रमुख पात्रों और महत्त्वपूर्ण घटनाओं को संकलित करके कथा-सार का संक्षेप इस प्रकार है :

"अवन्ती के राजा गंधर्वसेन द्वारा अपनी भगिनी सरस्वती के बन्दी किये जाने पर जैन साधु कालकाचार्य ने विदेशी आक्रान्ता जाति शकों से चुपचाप गठबंधन किया। शकों को प्रोत्साहित करके उसने भारत पर शकों को अभियान की प्रेरणा ही नहीं दी वरन् साधन जुटाकर उन्हें अपने आक्रमण में सफल भी बनाया, जिसके फलस्वरूप कुछ समय तक मगध देश पर शकों की विजय-वैजयन्ती फहराई। देश दासत्व की शृङ्खला में आबद्ध हो गया। शकों की बर्बर एवं नृशंस मनोवृत्ति शनैः-शनैः उनके आचरण तथा सामाजिक व्यवहार में प्रतिफलित होने लगी। जनता विक्षुब्ध हुई और शकों के अत्याचारों के प्रति आक्रोश, घृणा, द्वेष और विद्रोह के भाव एक साथ उत्पन्न हुए। दुर्भाग्य से देश विभिन्न गण-राज्यों में विभक्त था, जिनमें लेश-मात्र भी पारस्परिक सद्भाव शेष न रह गया था। मालव, यौधेय, आरक, उत्तमभद्र आदि प्रधान गण-तन्त्र थे और विदिशा, कोशल, आन्ध्र, पाटलिपुत्र आदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी स्वार्थ-सीमाओं तक ही सीमित रहकर देश की समग्रता के प्रति उदासीन थे। उज्जयिनी में मखलिपुत्र ही एक ऐसे योगी थे जो समबुद्धि से सब धर्मों के लोगों को धर्म की मर्यादा बताकर मार्ग-प्रदर्शन करते थे, किन्तु वैमनस्य और ईर्ष्या के उस दूषित वातावरण में उनकी ऊर्जस्वित वाणी का घोष अरण्य-रोदन बना हुआ था। अवन्ती का राजा पथ-भ्रष्ट होकर—अपने सहकर्मियों

के परित्याग के कारण—विनाश को निमंत्रण दे चुका था। शकों के आक्रमण और विजय के उपरान्त देश मे नैराश्य और कुण्ठा की ऐसी लहर दौड़ गई थी कि कर्मठ और जीवट के व्यक्ति भी अपने भीतर देश-स्वातन्त्र्य की क्षमता जुटा नही पा रहे थे। हाँ, भीतर-ही-भीतर भारतीय यह अनुभव अवश्य करते थे कि शको की दासता से, जैसे भी हो, मुक्ति पानी चाहिए। कार्य महान् था, शक्ति सीमित थी, प्रखर तेज वाले व्यक्तित्व का अभाव था, फिर सफलता कैसे हो। ऐतिहासिकों ने यह महान् कार्य राजा विक्रमादित्य, राजा इन्द्रसेन या राजा कृतसेन द्वारा वर्णित किया है। 'शक-विजय' के लेखक ने इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए 'वरद' नामक व्यक्ति की अवतारणा की है। 'वरद' का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वयं लेखक भी प्रमाणित नही कर पाया है, किन्तु प्राचीनो की अनिर्णीत स्थिति के आधार पर उसने भी अपना नवीन नाम रखने का साहस किया है। नाटक के इस प्रमुख पात्र की कल्पना के सम्बन्ध मे आलोचक की आपत्ति होना स्वाभाविक है। यदि कवि-स्वातंत्र्य का उपयोग करके लेखक ने ऐसा किया तब भी ऐतिहासिक नाटक मे उसके लिए प्रामाणिकता की अपेक्षा बनी ही रहती है। इतिवृत्त की ऐसी घोर उपेक्षा के साथ सहज ही समझौता नही किया जा सकता।"

श्री उदयशंकर भट्ट निसर्गतः कवि है, कवि की कल्पना और प्रौढोक्ति दोनो अधिकार-प्राप्त होते हैं, किन्तु नाटककार की भूमिका मे आकर उन अधिकारो का उपयोग चरित्रो के विकास मे भले किया जाय, पात्रो की सृष्टि मे नही करना चाहिए। विशेषतः प्रमुख पात्रो की अवतारणा तो इतिहास की कठोर पृष्ठभूमि पर ही की जानी चाहिए। भट्ट जी ने पौराणिक नाटक भी लिखे है, उनमे भाषा और शैली का जो रूप था वह नाटक के अनुरूप नही कहा जा सकता। किन्तु 'शक-विजय' मे भट्ट जी की भाषा और शैली इतनी आकर्षक और स्वाभाविक है कि उसमे कवित्व की छाप उभरने नही पाई है। इतनी प्रवाहपूर्ण भाषा मे यह नाटक लिखा गया है कि इसकी अभिनेयता कई गुनी बढ गई है। काव्य, संगीत, एकरसता और आवृत्ति को बचाकर ही शब्द, पद और वाक्य-विन्यास हुआ है। यह बात नही कि कवित्व और दर्शन को स्थान देने के लिए नाटक मे अवकाश ही न हो—नाटक मे ऐसे चरित्रो का अभाव नहीं जो सरस वातावरण के साथ काव्य-सृष्टि के लिए उपयुक्त अवसर देते हैं। सौम्या और सरस्वती के चरित्र-विकास मे कवित्व प्रदर्शन का पूरा अवकाश था; मंखलिपुत्र और कालकाचार्य के चित्रण मे दर्शन तथा गम्भीर चिन्तन को उपस्थित किया जा सकता था। नाटक मे भाव, द्वन्द्व तथा मानस-संघर्ष लेखक ने बडी सजीवता से प्रस्तुत किया है। कालकाचार्य की मनःस्थिति उसके आचरण का प्रतिबिम्ब बन-कर पाठक के सामने जिस रूप मे आती है वह लेखक की नाटकीय सफलता का सुन्दर निदर्शन है।

नाटक मे न तो घटनाओ का जाल है और न आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिकता की उलझन ही। सास्कृतिक चेतना पर आधारित ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इसकी चरम-सीमा (क्लाइमैक्स) शक-विजय के बाद उनसे मुक्ति पाने के प्रयत्नो मे है। फलागम है देश की एकता और स्वतन्त्रता। प्रारम्भ और प्रयत्न के बाद प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की स्थितियो मे 'वरद' नामक चरित्र को मूर्धन्य पर आसीन होना चाहिए था। किन्तु उसे चौथी और पाँचवी स्थितियो मे ही लेखक ने दिखाया है। 'वरद' के चरित्र की रेखाओ को यदि लेखक प्रारम्भ से ही उभरी हुई चित्रित करते तो निश्चय ही नायक बनने की क्षमता उसमे अधिकाधिक आती जाती। वरद के चित्रण मे लेखक की कलम मे उतना तेज और बल नहीं जितना ऐसे

पराक्रमी, साहसी और असीम क्षमता-सम्पन्न पात्र के अंकन में होना चाहिए था। वररुचि की विलक्षण कार्य-शक्ति और विराट् ध्येय-साधना के अनुरूप लेखक की अभिव्यक्ति ओजमयी और प्रखर नहीं हो पाई है। सम्भव है अनैतिहासिक व्यक्तित्व के कारण भीतर ही-भीतर लेखक उसे उभारने में सशंक और सन्दिग्ध बना रहा है।

नाटक की अभिनेयता के विषय में दो शब्द और। किसी नाटक को अभिनेय बनाने के लिए सुसम्बद्ध कथा-वस्तु, सीमित कार्य-व्यापार, सरलतम अभिव्यक्ति, और मंचीय साधन-सम्पन्नता का होना आवश्यक है। प्रसादजी के नाटकों में दोष-दर्शन करने वाले इन्हीं आरोपों से उन्हें अभिनेय नहीं समझते। 'शक-विजय' के विषय में यह कहा जा सकता है कि नाटक लिखते समय अभिनय की अनिवार्यता का ध्यान भले ही लेखक ने न रखा हो, किन्तु नाटक अपनी अभिव्यंजना-प्रणाली और सुसम्बद्ध कथावस्तु के कारण सर्वथा अभिनेय है और नाटककार इसमें पूर्ण सफल है। ऐतिहासिक नाटकों की अभिनेयता के लिए तत्कालीन वेश-विन्यास आदि भी अपेक्षित होता है, जिसका विवरण नाटककार ने पूरी तरह प्रस्तुत नहीं किया। आधुनिक प्रणाली में विवरण देना एक प्रकार से आवश्यक हो गया है। संक्षेप में नाटक, अपनी सीमा-मर्यादाओं के विकास के जिस उत्कर्ष तक पहुँच पाया है वह नाटककार की चरम सफलता का द्योतक है। और साथ ही हमें यह कहने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं कि इस युग की पृष्ठभूमि पर जो ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में लिखे गए हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है।[१]

शिवनाथ

क्या वह दोषी था ?

श्री विष्णु प्रभाकर की सरलता उनके सम्पूर्ण साहित्य में व्याप्त है। अपने साहित्य की रचना के लिए ग्राह्य विषयों तक उनकी पहुँच भी सीधी (डाइरेक्ट) होती है। अतः उनका साहित्य हमारे चारों ओर फैले यथार्थ जीवन तथा समाज के चित्रों से भरा है। परिचित विषयों तथा उन तक पहुँचने की सिधाई के साथ ही उनकी कला भी अति सीधी है। उन्हें कुछ कहना है, अतः कह जाते हैं; कलागत नमक-मिर्च (भंगिमा) की चिन्ता कम करते हैं। जिस सात्विक अर्थ में 'निपट' शब्द का प्रयोग जैनेन्द्र जी करते हैं उस अर्थ को दृष्टि में रखें तो श्री विष्णु प्रभाकर 'निपट' सरल साहित्यकार कहे जा सकते हैं। उनके आठ एकांकी नाटकों का संग्रह 'क्या वह दोषी था ?' में भी ये सारी विशेषताएं मिलेंगी। संग्रह की 'उपचेतना का छल' तथा 'क्या वह दोषी था ?' रचनाओं का लक्ष्य मुझे मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर अन्तर्मन का अध्ययन ही जान पड़ता है, अन्यथा इसमें गृहीत कथाएं; हमारे जीवन तथा समाज से सुपरिचित हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के उदाहरण प्रस्तुत करने के अलावा इनका लक्ष्य और कुछ नहीं—मुझे

१. लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन दिल्ली तथा प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली।

ऐसा ही लगता है। दूसरे नाटक मे डॉक्टर किशोर से कहता भी है—"मैं अब आपको दोषी नहीं कह सकता। कभी-कभी आदमी उपचेतना के हाथ की कठपुतली बन जाता है।" इसी 'उपचेतना के हाथ की कठपुतली' के उदाहरण इन रचनाओ मे है।

'सरकारी नौकरी' और 'गीत के बोल' मे व्यंग्यात्मक पद्धति के दो चित्र हैं। प्रथम मे आफिसो की लापरवाही तथा तथाकथित ईमानदार नौकरो के चित्र है। इसके बड़े बाबू एक सनकी आदमी है, जिनका तकिया कलाम है—"सरकारी नौकरी हँसी-खेल नही है।" 'गीत के बोल' मे पढ़े-लिखे फूहड़ लडके-लड़कियो का चित्र है।

'रक्त-चन्दन' तथा 'वीर पूजा' मे काश्मीर तथा पंजाब के उलट फेर की कथा है। 'रक्त-चन्दन' मे काश्मीर के हमलावरो के आतंक की कहानी है। 'वीर-पूजा' मे मालती पंजाब के उपद्रव मे दूसरे के पास रहने के कारण अपने को अशुद्ध समझती है और अपने पति के पास नहीं जाती। इसमे इसी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। अन्त मे उसका पति महेन्द्र उसी की भाँति सेवा-परायण होता है। इस नाटक का अन्त बहुत ही कुतूहलवर्धक और प्रभावशाली है।

'संस्कार और भावना' मे प्राचीन सस्कार तथा नवीन भावना का संघर्ष है। अन्त मे भावना विजयी होती है। "जिन बातो का हम प्राण देकर भी विरोध करने को तैयार रहते हैं, एक समय आता है जब चाहे किसी कारण से भी हो, हम उन्ही बातो को चुपचाप स्वीकार कर लेते है।"

'मुरब्बी' इस संग्रह की श्रेष्ठ रचना मुझे लगती है। इसमे मुरब्बी के रूप में अन्तर्द्वन्द्वो से भरे सरल, व्यावहारिक, ईमानदार मानव-चरित्र का चित्र है। मुनव्वर मे भी कम विशेषताएं नही है। वह मुरब्बी के साथ कुआँ खोदता और गंगा पर घाट बनाता है—समाजोपकार के लिए। इस प्रकार मानवता की एकता इन चरित्रो से प्रतिपादित है।

सग्रह मे अधिक नाटक ऐसे हैं जो रेडियो के लिए रचित हैं—यद्यपि नाटककार का मत है कि ये रगमंच पर भी अभिनेय हैं। ऐसी स्थिति में इनमे नाटकत्व कम है। इनमे अन्तर तथ बाह्य द्वन्द्व कम हैं, कथा के उतार-चढ़ाव की दृष्टि से कथा के विभाजन का खयाल कम है। ये रचनाए नाटकीय और चित्रात्मक अधिक हैं। जिन रचनाओ मे रेडियो वाली दृष्टि नही है वे अच्छी है। उनमे नाटकीयता है, जैसे—'वीर-पूजा' तथा 'भावना और संस्कार' मे।[1]

डॉक्टर रांगेय राघव

नाथ-सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय का इतिहास सहज यानी सिद्धो के बाद से कबीर तक लगभग ५०० वर्षों का सास्कृतिक अध्ययन है। इस विस्तृत समय मे इस योग-सम्प्रदाय ने इतना गहरा प्रभाव डाला था कि महाकवि तुलसीदास को स्पष्ट रूप से इसका विरोध करना पड़ा था। पण्डित हजारीप्रसाद

१. लेखक—विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक—रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स दिल्ली।

द्विवेदी की यह पुस्तक इस विषय पर हिन्दी में पहली रचना है जिसमें गम्भीर अध्ययन के आधार पर सम्प्रदाय के विषय मे लिखा गया है ।

पुस्तक मे चौदह अध्याय है; जिनमें सम्प्रदाय के विस्तार, पुराने सिद्ध, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, कौलज्ञान, जलंधरनाथ और कृष्णपाद कापालिक मत, पिण्ड ब्रह्माण्ड, पातञ्जल योग तथा परवर्ती सिद्ध-सम्प्रदाय आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । पण्डित जी ने अत्यन्त विद्वत्ता के साथ बिखरे हुए तथ्यो को एकत्र किया है और तारतम्य के साथ प्रस्तुत किया है ।

नाथ-सम्प्रदाय का इतिहास लिखना कठिन यो भी है कि तथ्य बहुत कम है । अभावो के सागर मे संतरण करके भी जो मोती वे खोज लाए हैं उसके लिए वे बधाई के पात्र है ।

नाथ-सम्प्रदाय भारत मे, वास्तव मे, शैव सम्प्रदाय की ही एक विकसित शाखा है । बारह और अठारह पथो का नाथ-सम्प्रदाय मे गोरखनाथ द्वारा अन्तर्भुक्त हो जाना इसका स्पष्ट प्रमाण है कि सम्प्रदाय का केवल धार्मिक स्वरूप ही नही, वरन् एक सामाजिक स्वरूप भी था । पण्डित जी ने जहाँ आध्यात्मिक पक्ष को बड़ी गम्भीरता से देखा है, वहाँ वे सामाजिक पक्ष मे प्रत्येक उतार चढ़ाव को समझकर भी कही-कही सम्भवतः जान-बूझकर कुछ बाते कहने मे चुप रह गए है । पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी को बहुत-से लोग पुराने आलोचको मे मानते है, वे भूल करते हैं । वास्तविकता यह है कि उनकी रचनाओ मे साहित्य के भीतर-ही-भीतर बहती सामाजिक चेतना की इतनी गहरी पैठ दिखाई देती है कि उन्हे पुराने समय का कहना, भारी भूल करना है । यह गलती इसलिए होती है कि हिन्दी के नए आलोचक जहाँ ऊपरी तरह पर बातो को कहकर अपने को नया सिद्ध कर लेते हैं, वहाँ पण्डित जी 'गहरे पानी पैठ' कहते है नई बात ही, पर इतने धीमे कि वे जैसे जान-बूझकर स्पष्ट नहीं होना चाहते । पृ० २ पर वे लिखते है कि तुलसीदास जी ने "सिद्ध-मत की भक्ति-हीनता की ओर इशारा किया है ।" बस ! परन्तु उनके विवेचन में स्पष्ट ही प्रगट होता है कि गोरखनाथ ब्राह्मणवाद के विरोधी थे और तुलसीदास ने इसी का विरोध किया था :

बरन धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो,

तथा—

निगम नियोग ते सो केलिहीधरोसो है ।

इस बात को वे स्पष्ट नहीं करते । जहाँ वाममार्ग पर यक्ष-प्रभाव (पृ० ८२) का वर्णन करते है, वहाँ वे उसके दार्शनिक पक्ष को लेकर सामाजिक पक्ष को छोड़ देते है । सम्भवतः वे संकोच करते हैं या कुरूप सत्य कहकर वे अपने को परम्परागत विश्वासो के विरोध मे स्पष्ट नही रखते । पण्डित जी ने चीनागम का वर्णन ही नही किया है, जब कि चीनाचार का प्रभाव प्रचण्ड शाक्त-रूप धारण करके आया था । चीनाचार के विरोध मे ब्रह्मचारी सम्प्रदायो का उल्लेख-मात्र करके वे आगे नही बढ़े । योगिनी कौल-मत से सिद्ध-मत मे गोरख द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ का आना भी सम्प्रदायो की मुठभेड़ थी । इसके भी समष्टिगत रूप को देखने के स्थान पर पण्डित जी उसे व्यष्टिगत साधना की ओर ले जाते हैं । 'कबीर' मे उन्होने अधिक स्पष्ट रूप से बताया था कि कबीर के अनुयायियो ने कबीर के विद्रोह को दबाकर अपने मत को ब्राह्मणों से अनुमति-प्राप्त सम्प्रदाय बनाना चाहा था और वे बनाने मे सफल भी हुए । यही नाथ-सम्प्रदाय के विषय मे भी कुछ सीमा तक हुआ ।

गोरक्षनाथ ने जो आर्येतर शिव पंथो को एकत्र करके, शाक्त प्रभाव से फटककर बाह्य वाममार्गीय पद्धति को शरीर के भीतर अन्तर्भुक्त करके, ब्राह्मणवाद का विरोध करके, अद्वैतवाद के रूप मे दार्शनिक पक्ष खडा करके, अपने मत मे हटयोग को प्रधानता देकर उसे राजयोग का सामीप्य देकर अपने को ब्राह्मणवाद के निकट कर दिया था, यह गोरक्ष की जहाँ एक ओर प्रगति-परम्परा थी, दूसरी ओर वे स्वयं ही अपनी व्यष्टिगत प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन सामन्तीय समाज-व्यवस्था से हार गए थे। फिर भी नाथ-सम्प्रदाय मे हिन्दू-मुस्लिम दोनो को ही अपने से अलग मानने की एक प्रवृत्ति थी।

"ना मै हिन्दू, ना मुसलमान" जो गोरखवाणी मे दिखता है, पण्डित जी ने उसे भी नही देखा है।

पुस्तक मे सर्वश्रेष्ठ भाग है कृष्णपाद और जालंधरनाथ के कापालिक मत की विवेचना। यह बहुत ही कठिन था और पण्डित जी ने जो काश्मीर शैवमत से उसका सारूप्य और भेद दिखाया है, वह भी बहुत गवेषणा पूर्वक लिखा गया है।

नाथ-सम्प्रदाय का मूल जहाँ एक ओर शैव सम्प्रदायो के ब्राह्मण-विरोधी या वेद-बाह्य सम्प्रदायो मे है, वहाँ गोरक्षनाथ की विशेषता है कि वे उसे यक्ष-प्रभाव से मुक्त कर सके। पर पंथ का विकास भी इसे ही परिलक्षित करता है।

योगियो मे अधिकाश जुलाहा जातियाँ है जिनकी पण्डित जी ने संख्या बताई है (पृ०२२)। यहाँ यदि वे यह कहते कि जुलाहा जाति अपने वेद-बाह्य रूप के कारण ही पतित मानी गई थी, तो वे अपनी बात को बिलकुल स्पष्ट कर देते।

सिद्धों की सूची तथा मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के समय के विषय मे उन्होने प्रबोधचन्द्र बागची आदि का ही आधार लिया है। अभी तथ्यो की कमी के कारण और कुछ कहा भी नहीं जा सकता। राहुल जी ने इस सम्बन्ध मे जो सहजयानी सूची दी है, पण्डित जी ने उसकी तुलना अनेक सूचियो से करके नामो को एकत्र किया है।

प्रस्तुत पुस्तक का सबसे बडा महत्त्व है कि पण्डित जी ने दार्शनिक पक्ष मे गर्भपिण्ड से परशिव तक की समस्त सीमाओ मे जो अहं इदं का विवेचन किया है, उसके मूल मे वे यह कभी नही भूले कि शाक्त तथा समस्त शैव सम्प्रदाय की दार्शनिकता का आधार जीवन का सत्य स्वीकार करना था। अभाव के पक्ष में जहाँ अपने को लय कर देने की भावना है उसका सामाजिक पक्ष यदि एक ओर भोग-वृत्ति है, उसके उसी दार्शनिक पक्ष मे भी वह शंकर के मायावाद की भाँति नहीं है जो वास्तव को झुठा दे। अपनी उच्च श्रेणियो में अद्वैत होकर भी यह अद्वैत अपने व्यवहार मे वेदान्त और शैव सम्प्रदायो मे एक-सा नहीं रहा है।

गोरक्षनाथ का महत्त्व पण्डित जी पूर्ण रूप से प्रतिपादित नही कर सके है, क्योकि गोरक्ष वास्तव मे पण्डित जी के वर्णन से कही अधिक महान् थे। वे ऐसे महान् धर्म-गुरू थे जिन्होने अपने युग मे ऐसी भारी उथल-पुथल मचा दी थी, जिसे स्वीकार करने के लिए समाज की मूल व्यवस्था पर आघात करना आवश्यक था।

लोक-भाषा मे सम्प्रदाय के नैतिक उपदेश नामक अध्याय मे पण्डित जी यदि गोरख-पंथ के वे उपदेश भी वर्णित कर देते जिनमे योगी ने अपने को समाज के विरुद्ध भी रखा है तो इस सम्प्रदाय का भारतीय इतिहास मे अपना क्या विशेष स्थान था, प्रगट हो जाता।

नाथ-सम्प्रदाय अपने से पहले से आती हुई अनेक धाराओं का एकत्रीकरण या परिमार्जन था। इसलिए जब कहा जाता है (पृ० १८७) योग-सम्प्रदाय गृहस्थ का अनादर करता था, शुष्क-नीरस था, अतएव तुभिष्णु था, हम इसे सापेक्ष दृष्टि से देखने के लिए बाध्य हैं। उस समय इतना प्रचण्ड शाक्त प्रभाव था कि अकेले गोरखनाथ की वाणी यदि इतनी प्रचण्ड नहीं होती तो क्या वे उसे रोक पाते। अति का अतिक्रमण अति से ही हुआ। उसका एक सामाजिक पक्ष भी था। परवर्ती काल में वह व्यष्टिगत रूप पकड़ता गया और इस्लाम तथा सामन्तीय व्यवस्था के कारण उसका सामाजिक पक्ष अपना रूप बदलता ही गया।

पुस्तक में छपाई की गलतियाँ रह गई हैं। सिवनोर और गोदावरी, पृ० १३ तथा पृ० ४४ पर सिवतोर और गोदावदरी छप गए हैं। नामों की गलती भ्रामक होती है।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए पण्डित जी बधाई के पात्र हैं, परन्तु उनकी विद्वत्ता निस्सन्देह उनकी इस रचना से अधिक गहरी है। आशा है वे चौरंगीनाथ की पाण्डुलिपि के सम्पादन में इस अवशिष्ट कार्य को पूरा कर देंगे।[1]

डॉक्टर देवराज

रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र

'रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र' में श्री देवराज उपाध्याय ने रोमाण्टिक युग के, मुख्यत. अँग्रेजी, साहित्यिक विचारकों की सैद्धान्तिक दृष्टियों का परिचय देने का प्रयत्न किया है। विचारकों में लेसिंग ही एक-मात्र अँगरेजेतर विचारक हैं। प्रारम्भ में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की सारगर्भित भूमिका है। स्वयं लेखक की अपनी भूमिका में, जिसे पुस्तक का पहला अध्याय भी कहा जा सकता है, 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' साहित्यों का भेद विस्तार से समझाया गया है। इसके बाद के अध्याय का विषय भी प्रायः यही है। शेष ग्रन्थ में क्रमशः एडिसन लेसिंग, कवि शैली, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज और रस्किन के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है।

लेखक की रोमाण्टिक साहित्य और विचार-धारा से सहज सहानुभूति है; इस कारण भी वे उक्त विचार-धारा का विशद उद्घाटन कर सके हैं। उनकी यह सहानुभूति इसी से प्रकट है कि उन्होंने 'क्लासिकल' का अनुवाद 'शास्त्रीय' किया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि क्लासिक साहित्य मुख्यतः रूढ़िवादी होता है। इसी प्रकार उन्होंने 'रोमाण्टिक' का अनुवाद 'स्वच्छन्दता-वादी' किया है। किन्तु, जैसा कि द्विवेदी जी ने अपनी भूमिका में कहा है, "विद्रोह उन (रोमाण्टिक कवियों) की नवीन भाव-धारा का एक बाहरी और अनावश्यक रूप-भर था।" वस्तुतः रोमाण्टिक साहित्य में अभिव्यक्त विद्रोह-भावना अथवा स्वतन्त्रता की माँग का महत्त्वपूर्ण पहलू सामाजिक और राजनैतिक है, न कि साहित्यिक अभिव्यक्ति-मूलक। इसी प्रकार साहित्यिक

1. लेखक—हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग।

अनुभूति एवं सप्राणता की दृष्टि से क्लासिकल साहित्य की प्रधान विशेषता उसकी नियम-परायणता नहीं है। सच पूछिए तो इंगलैंड की रोमांटिक भाव-धारा का विद्रोह यूनान की उन्नत क्लासिकल परम्परा के विरुद्ध न होकर उस विकृत तथा बाहरी अनुकरणमूलक क्लासिकल परम्परा के प्रति था जो विगत शताब्दी के इंगलैंड में प्रसरित हो गई थी। दूसरे अध्याय में लेखक ने 'रोमांटिक' और 'क्लासिक' परम्पराओं के अधिक महत्त्वपूर्ण भेदों को देखने का भी प्रयत्न किया है।

कवि गेटे ने कहीं कहा है कि रोमांटिक और क्लासिक शब्दों का प्रयोग और उनके भेद का प्रचलन पहले-पहल उन्होंने तथा कवि शिलर ने किया और उसके बाद वह फ़ैशन की चीज समझा जाने लगा। अच्छा होता यदि उपाध्याय जी इस विचार-द्वन्द्व के सम्बन्ध में गेटे के विचारों का भी विवरण देते। गेटे ने (जो स्वयं काफी दूर तक रोमांटिक परम्परा का कवि है विशेषतः अपनी शुरू की कृतियों में) रोमांटिक साहित्य को 'अस्वस्थता का साहित्य' और क्लासिकल साहित्य को 'स्वास्थ्य का साहित्य' कहा है। स्वयं हमने अन्यत्र यह मत प्रकट किया है कि क्लासिकल साहित्य यथार्थमूलक साहित्य होता है और रोमांटिक साहित्य अपेक्षाकृत यथार्थ से कम सम्पृक्त एवं कल्पना-मूलक। दूसरे, रोमांटिक साहित्य तीव्रता-प्रधान होता है, जब कि क्लासिक साहित्य में भावनात्मक गहराई और सन्तुलन रहता है। इस दृष्टि से जहाँ कालिदास की समवेदना रोमांटिक भाव-भूमि से मिलती-जुलती है (अर्थात् सौन्दर्य-प्रधान) वहाँ उसकी अभिव्यक्ति में क्लासिक स्थिरता और गहराई है। क्लासिक की भावात्मक एवं अभिव्यक्तिगत विशेषता किसी खास विषय-वस्तु पर निर्भर नहीं, इसलिए, साधारण जीवन और पात्रों को लेकर भी क्लासिक कोटि के साहित्य की सृष्टि की जा सकती है। स्वयं रोमांटिक कवियों में भावनात्मक सन्तुलन और गहराई की दृष्टि से वर्ड्सवर्थ को क्लासिक कहना चाहिए और शैली को रोमांटिक; कीट्स की स्थिति बहुत-कुछ कालिदास-जैसी है, विशेषतः अपनी प्रौढ़ रचनाओं में। यथार्थ की पकड़ अपेक्षाकृत शिथिल होने के कारण रोमांटिक कलाकार प्रायः हवाई और स्वप्नदर्शी प्रकृति का होता है।

किन्तु यह ठीक है कि रोमांटिक कवियों में अपने शैलीगत विद्रोह की चेतना प्रधान थी। उपाध्याय जी ने विचारों के विश्लेषण में कल्पना-जैसे कठिन विषयों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया है। उन्होंने रोमांटिक विचार-पद्धति को उसकी सम्पूर्ण जटिलता में निरूपित करने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में, शुक्ल जी के बाहर, विचारात्मक समीक्षा-साहित्य की बड़ी कमी है। अधिकांश आलोचक, स्वतन्त्र-चिन्तन की आवश्यकता महसूस न करते हुए बँधी हुई लीकों में कुछ चुनी हुई समस्याओं पर सोचते-चलते दिखाई देते हैं। आज के युग में प्रत्येक क्षेत्र में समस्याएं इतनी जटिल हो गई हैं कि उन पर चिन्तन करने के लिए उच्चतम प्रतिभा अपेक्षित हो गई है यों तो मौलिक चिन्तन के लिए सदा से उच्च प्रतिभा अपेक्षित रही है। यह भी एक कारण है कि योरप में बड़े दार्शनिकों के अतिरिक्त साहित्य-सम्बन्धी अधिकांश चिन्तन स्वयं श्रेष्ठ लेखकों द्वारा हुआ है। फलतः हम पाते हैं कि उपाध्याय जी की पुस्तक के अधिकांश विचारक स्वयं अच्छे कवि और कलाकार हैं। हिन्दी में, शुक्ल जी से बाहर, जहाँ ऐसे समीक्षक को खोज निकालना कठिन है जिसने विश्व के साहित्य-शास्त्र को कोई नया विचार दिया हो; वहाँ ऐसे लेखकों, कवियों और कथाकारों को खोज लेना भी सरल नहीं है। हमारे विद्रोही लेखकों का विद्रोह प्रायः योरप से प्रेरणा लेकर खड़ा होता रहा है। शायद इसका एक कारण हमारी यह प्रचलित

धारणा भी है कि लेखक अथवा कवि को कोरा भावुक होना चाहिए, विचारशील नहीं। हमें आशा है कि उपाध्याय जी की यह पुस्तक इस भ्रान्त धारणा को हटाने तथा लेखकों और समीक्षकों—दोनों को गम्भीर रूप मे विचारशील बनने की प्रेरणा देगी।

उपाध्याय जी की भाषा में रोमाण्टिक तरलता और प्रवाह है। शुक्ल जी की भाँति वे प्रत्येक पद को अर्थ-बोझिल नही बनाते, अतः इतना काफी है कि पाठक उनके वाक्यों के आशय को सहज भाव से हृदयंगम करता चले। मैं यह नहीं कहता कि शुक्ल जी मे प्रवाह नहीं है, पर उस प्रवाह की दाद उच्चतर कोटि के पाठक ही दे सकते हैं। जहाँ अर्थ-गौरव अधिक रहता है वहाँ लेखक प्रत्येक शब्द का सचेत एवं सृजनात्मक प्रयोग करता है; इसके विपरीत रोमाण्टिक लेखक शब्दों के अनुषंग-मूलक (परम्परा-प्राप्त) सौन्दर्य से जितना आकृष्ट होता है उतना उनके भावों एवं विचारो को सही-समर्थ रूप मे प्रकाशित करने की क्षमता से नहीं। हिन्दी-काव्य मे 'रामचरित मानस' का प्रवाह रोमाण्टिक कोटि का है; तुलसी के शब्द-प्रयोग मे सूर-जैसी सूक्ष्म सतर्कता नही है।

परिश्रम, सुरुचि और विद्वत्ता के इस सरस-मधुर फल का हम स्वागत करते हैं। हम चाहेंगे कि अगले संस्करण मे उपाध्याय जी रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र की आधुनिक स्थिति पर एक अध्याय जोड़ दें। टी० एस० इलियट के आगमन के बाद इस प्रकार का अध्याय अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो गया है।[1]

नामवरसिंह

महादेवी वर्मा : काव्य-कला और जीवन-दर्शन

हिन्दी समीक्षा मे यह शिक्षोपयोगी संग्रह-युग चल रहा है। कुछ लोग एक कवि, लेखक या काव्य-धारा-सम्बन्धी दस-पन्द्रह लेखकों के निबन्ध बटोरकर सम्पादक बन बैठते हैं और कुछ उन्हीं निबन्धों से लम्बे लम्बे उद्धरण देकर स्वयं ही पुस्तक के लेखक। श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने सुश्री महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व, काव्य-कला तथा जीवन-दर्शन पर विविध लेखकों के छब्बीस निबन्धों का संग्रह करके पहली श्रेणी मे एक नाम और जोड़ दिया है। विषय-चयन मे योजना का अभाव, पुनरावृत्तियों की अधिकता, निबन्ध-क्रम मे गड़बड़ी, अनुपात की अवहेलना, एक ही विषय पर अनेक निबन्धों का होना तथा कुछ पर एक भी न होना, महादेवी जी का तथ्यपरक जीवन-चरित तथा कालानुक्रम से उनकी रचनाओं की सूची, साथ ही उन पर प्रकाशित अब तक के ग्रन्थों की तालिका का अभाव, सभी निबन्धों के आरम्भ मे सार-सचय करते समय महत्त्वपूर्ण अंश का तिरस्कार आदि बातें बतलाती हैं कि सम्पादिका ने सम्पादन-कार्य पूरा नही किया है। यह सब इसलिए कहना पड़ता है कि इधर उनके सम्पादन की गूँज है। उन्होंने श्री सुमित्रानन्दन पन्त पर भी एक पुस्तक सम्पादित की है। उत्साह प्रशंसनीय है, लेकिन उत्तरदायित्व सापेक्ष भी है।

---

१. लेखक—देवराज उपाध्याय, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

इतना होते हुए भी इस संग्रह का महत्त्व है और इसका श्रेय अनेक संकलित समीक्षकों को है। अब तक महादेवी जी पर गंगाप्रसाद पांडेय तथा विश्वम्भर 'मानव'-जैसे काव्य-मुग्ध समीक्षकों ने ही कुछ पुस्तकें निकाली हैं, जिनमें कवयित्री की कुछ कविताओं के लम्बे-लम्बे उद्धरणों तथा शेष के गद्य-रूपान्तरों के बाद स्वयं समीक्षक ने अपना गद्य-काव्य प्रदर्शित किया है। ऐसी दशा में यह जरूरी था कि महादेवी जी सम्बन्धी उन निबन्धों को एकत्र किया जाय जो अपनी कसावट में एक पुस्तक की रूपरेखा छिपाये थे। शचीरानी जी का यह कार्य सामयिक ही नहीं ऐतिहासिक महत्त्व का है। यद्यपि उन्होंने यह नहीं बतलाया कि कौन निबन्ध किस सन् का लिखा है तथा सर्वप्रथम वह कहाँ प्रकाशित हुआ, तथापि महादेवी जी पर बिखरे हुए महत्त्व-पूर्ण निबन्धों का संग्रह स्वयं ही एक बड़ा काम है। हिन्दी में संग्रहकर्ता के लिए 'कृतज्ञता-ज्ञापन' का चलन ही कहाँ है ?

अब पुस्तक-परिक्रमा।

संग्रह में महादेवी जी के व्यक्तित्व-सम्बन्धी चार निबन्ध हैं, जिनमें देवेन्द्र सत्यार्थी कवयित्री के साहित्य पर भी राय देने की झोंक में 'उस पर ही' राय देते रह जाते हैं। वीर-पूजा की भावना आजकल ऐसा भीषण रूप ले रही है कि कोई निराला जी को देवता बनाने पर तुला है तो कोई महादेवी जी को देवी। सत्यार्थी जी का 'महाश्वेता महादेवी' बाण की कादंबरी की 'महाश्वेता' का स्मरण दिलाती है। श्री शिवचन्द्र नागर ने भी कुछ ऐसा ही आटोप बाँधा है। महादेवी जी के उन्मुक्त हास को तो यारों ने ऐसा रहस्यात्मक जामा पहनाया है तथा इस हद तक फेंटा है कि उसकी सारी सहजता जाती रही; और शचीरानी जी जैनेन्द्र जी से प्रश्न करते समय पहला प्रश्न यही करती हैं, "सुना है महादेवी जी नब्बे प्रतिशत हँसती हैं, बातें कम करती हैं।" क्या बढ़िया गणित का ज्ञान है।

तमाम शिल्पाभास (मैनरिज्म) तथा आत्मशंसा के बावजूद सत्यार्थी जी ने महादेवी जी के विषय में यह तथ्य ठीक ही लक्ष्य किया है कि 'एक लेखक तो ऐसा है जो लेखनी से थोड़ा अवकाश लेकर समकालीन लेखकों के अधिकारों के लिए 'कॉपी-राइट' के विषय में इतना चिन्तित हो।' श्री शिवचन्द्र नागर ने रेखाचित्र खींचते हुए ऊब-भरी वर्णनात्मक शैली में महादेवी जी की कलात्मक रुचि, अध्यापन-कला, बातचीत, फूलों की जानकारी, अच्छी स्मृति, क्रियाशीलता, बरसात-प्रियता, सभा-भीरुता, दर्पण-विमुखता, पारिवारिक भावना, तपःपूत जीवन-चर्या आदि की चर्चा करते हुए अन्त में 'हिमवत्' से उपमित किया है। श्री भानुकुमार जैन ने 'एक भेंट' के माध्यम से प्रसंगेतर बातों की बृहद् चर्चा की है और 'जन की ओर वे *उत्कीर्ण* नहीं हुईं'—जैसा अज्ञान भरा वाक्य लिखा है। अलबत्ता श्रीमती सावित्रीदेवी वर्मा ने स्त्री-जन-सुलभ सरलता तथा सहानुभूति से अपनी महादेवी बहन जी के छात्र-जीवन की अनेक अज्ञात बातें बड़े मनोरंजक ढंग से बतलाई हैं। आरम्भ से ही कवयित्री द्रवणशील तथा एकान्तप्रिय थीं, तेरह-चौदह की वय से ही काव्य-रचना करने लगी थीं। परन्तु सबसे सुन्दर बात सावित्री जी ने यह बतलाई है—"इनके चेहरे में जो एक विशेषता है, वह यह कि इनके कान कुछ आगे को बढ़े हुए झाँकते हुए-से हैं—मानो वे मानव की करुण पुकार सुनने के लिए कुछ सतर्क हो खड़े हों।"

कलाकार के रूप में महादेवी ने गद्य, चित्र तथा कविता—तीन प्रकार की रचनाएं की हैं और इस संग्रह में तीनों पर निबन्ध हैं। महादेवी का गद्य भी त्रिविध है—रेखाचित्र, सामाजिक

निबन्ध, साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध। रेखाचित्र की दो पुस्तकें हैं—अतीत के चल-चित्र तथा स्मृति की रेखाएं, कुछ अन्य रेखाचित्र—जैसे निराला जी सम्बन्धी अभी पुस्तकाकार संगृहीत नहीं हुए हैं। श्री गोपालकृष्ण कौल ने इन रेखाचित्रों पर विचार करते हुए लक्ष्य किया है: "वे केवल रेखाओं में आकृति और मुद्रा को ही अंकित नहीं करतीं, वरन् मन के सूक्ष्म भावों को भी उभारकर शब्द-रेखाओं में बाँधने का प्रयत्न करती हैं।" साथ ही "महादेवी जी के रेखाचित्रों में पात्र स्वयं कम बोलता है, इसलिए संवाद कम हैं किन्तु जितने संवाद हैं वे चरित्र की सूक्ष्म रूप से व्याख्या करने में समर्थ हैं।" अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि संस्मरण का संस्पर्श होने से उनकी कुछ रचनाएं पूर्ण रेखाचित्र नहीं कही जा सकतीं, किन्तु उनमें भी रेखाचित्रों के स्फुट अंश दिखाई पड़ते हैं।"

महादेवी जी के सामाजिक निबन्ध 'शृङ्खला की कड़ियाँ' में संगृहीत हैं और इसका अध्ययन श्री अमृतराय ने 'नारी समस्या' की दृष्टि से उपस्थित किया है। दीर्घ उद्धरण प्रेमी श्री अमृतराय ने अंत में यह निर्णय दिया है कि नारी-समस्या पर महादेवी जी के विचार आद्यन्त समाजवाद की ओर उन्मुख हैं और उनकी पुष्ट सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं। आरम्भ में उन्हें 'नीर-भरी दुख की बदली' कहना और अंत में 'क्रान्तिकारिणी' कुछ अजीब लगता है। इनकी अपेक्षा डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि "महादेवी जी का कवि और गद्यकार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, वे दो बिखरी हुई इकाइयाँ नहीं हैं।" "इसका कारण यह है कि संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण विज्ञान-सम्मत नहीं है और उनके मनोबल और कर्म-सम्बन्धी इच्छा-शक्ति की अपनी सीमाएं हैं।" इन सूत्रों के आलोक में श्रीमती शचीरानी ने जो यह धारणा बनाई है वह सर्वाधिक वैज्ञानिक है: "गद्य में सामाजिक जीवन की ह्रासोन्मुखी गतानुगतिकता के प्रति स्वस्थ एवं सफल विद्रोह होते हुए भी उनमें गतिशील क्रान्तिकारी चेतना और सजग क्रियाशीलता के चिह्न नहीं हैं। उनमें राग है, कशाघात नहीं; पराजय है, प्रतिकार-भावना नहीं; कोमलता है, कठोरता नहीं; निर्मम वास्तविकताओं के प्रति मूक स्वीकृति है, उनके निदान का कोई स्पष्ट उपचार नहीं।"

महादेवी जी ने जो आलोचनात्मक लेख लिखे हैं उन पर डॉ० नगेन्द्र तथा देवराज उपध्याय दो विद्वानों ने विचार किया है। श्री देवराज जी ने अंग्रेजी समीक्षकों की अनूदित, अननूदित फिकरों की छटा दिखाने के बीच लगे हाथों महादेवी जी के 'काव्य-शास्त्र' पर भी कृपा कर दी है। वे कहते हैं, "आप पायगे कि महादेवी ने कविता क्या है, साहित्य क्या है—इन प्रश्नों की छान-बीन में अधिक परिश्रम किया है।" परन्तु लगता है कि यह लिखते समय देवराज जी के दिमाग में महादेवी जी के स्थान पर आचार्य शुक्ल आ गए थे। डॉ० नगेन्द्र ने महादेवी जी के साहित्य-दर्शन और छायावाद-सम्बन्धी मत पर उद्धरण देकर विचार करने की चार बातें कही हैं—

१. महादेवी जी के साहित्यिक भाग नैतिकता के बोझ से काफी दबे हैं।

२. महादेवी जी ने छायावाद की तन्वी कविता पर दर्शन का बोझ कुछ अधिक लाद दिया है।

३. शुक्ल जी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न यह शैली प्रसाद और पंत की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिन्तना के अधिक समीप है।

४. ऐतिहासिक एकसूत्रता।

शचीरानी जी को उनमे 'अपने पक्ष समर्थन का आग्रह अधिक, वस्तुस्थिति की निर्दिष्ट दिशाओ का संश्लेषण कम' मिलता है। साथ ही 'दार्शनिक चिन्तन की बोझिलता से उनकी भाव-व्यंजना सहज दुर्विज्ञेय हो गई है।'

श्री मन्मथनाथ गुप्त के अनुसार 'इन भूमिकाओ के कारण उनकी कविताओ को समझना और भी दुरूह हो गया है।' यह दुरूहता भाषागत ही नही, बल्कि परस्पर-विरोधी बातों के कारण है।

ये सभी विचार एक-दूसरे के पूरक समझकर ही रखे गए हैं। परन्तु महादेवी की समीक्षा का एक और अंग है, और वह है काव्य-परख। 'गीत-काव्य' निबन्ध मे उन्होने गीतो की जो ऐतिहासिक परम्परा दिखाई है, अन्यत्र दुर्लभ है। वही अपने समसामयिक तथा प्राचीन कवियो की कविताओ का जो मर्मोद्घाटन उन्होने किया है वह एक कुशल काव्य-पारखी की दृष्टि से ही सम्भव है।

महादेवी जी के गद्यगत विचारो के साथ गद्यशैली पर भी विचार जरूरी है और श्री रामचरण महेन्द्र ने यह कार्य सम्पन्न किया है। हिन्दी मे शैली-सूचक पदावली की कमी है और इसका साफ मतलब है कि हिन्दी मे शैली पर बहुत कम विचार हुआ है। श्री रामचरण जी के निबन्ध मे भी यही ओछापन है। उन्हे 'हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की विलक्षण शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपो की उद्भावना, कल्पना-शक्ति पर प्रभुत्व और शब्दो की नक्काशी का समुच्चय' महादेवी जी की गद्य-शैली मे घुला मिलता है। उपमाओ का कोष लुटाना तथा वचन-वक्रता उन्हे अधिक पसन्द आती है। कुछ लोगो को महादेवी जी की शैली लद्दड़, प्रवाह-हीन, घुमावदार तथा श्रम-साध्य लगती है। वस्तुतः शैली का विवेचन विषय का मर्म समझे बिना सम्भव ही नहीं। महादेवी जी की शैली मे ही ये बाते नहीं मिलतीं बल्कि निराला को छोड़कर सभी छायावादियो मे वह श्रम-साध्य पेचीदगी तथा संस्कृताऊ विशेषण-बहुल वाक्य-विन्यास मिलता है। यह छायावादी चेतना का परिणाम था। छायावादी गद्य-शैली को छायावादी काव्य-शैली से अलग करके नही देखा जा सकता।

गद्य की ही भाँति महत्त्वपूर्ण हैं महादेवी जी के चित्र। महादेवी जी की कविता के साथ उनके चित्रो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है श्री प्रभाकर माचवे ने। माचवे जी स्वयं चित्रकार (शायद रेखाकार अधिक) हैं। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि पांडित्य-प्रदर्शक उद्धरणों की आतंकमयी लड़ी के बीच माचवे जी ने अब तक कोई तथ्यपरक बात नही कही है। आरम्भ मे व्यर्थ ही मीरा-महादेवी की तुलना मे उलझकर उन्होंने कुछ दूर तक संचारी भावो की सूची के सहारे शास्त्रीय तथा गणनामूलक समीक्षा का प्रदर्शन किया है। हाथ लगता है यह सूत्र: 'महादेवी जी के चित्रो मे करुण मुद्राओ का आधिक्य है। कांटो से बँधे हाथ, मृत-प्राय शिशु, प्रेम और टिमटिमाते दीप अधिक हैं।' जो सर्वविदित है। फिर मिलते हैं ऐसे फिकरे—वर्ण-वर्ण मे पंक्ति बन गई है। रंग रेखाकार हो उठे हैं।' जिनका कोई अर्थ नहीं खुलता।

हम चित्र-विशेषज्ञ नही, जो इसमें व्यर्थ टाँग अड़ायं, (यद्यपि हिन्दी-समीक्षक के लिए सब कुछ जानने का अभिनय करना जरूरी है) लेकिन यह अवश्य कहेगे कि अभी तक महादेवी जी

के चित्रों का सही मूल्यांकन देखने में नहीं आया—कविताओं के साथ उनकी तुलना तो दूर की वस्तु है।

महादेवी जी की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है कविता; और इस संग्रह में आधे से अधिक निबन्ध इसी पर हैं। 'कमलेश' जी ने प्रकृति-चित्रण पर लिखा है तो ओमप्रकाश जी ने अलंकार सौन्दर्य पर, मानव जी ने प्रणयानुभूति पर। और तीन समीक्षाएं तुलनात्मक हैं—मीरा और महादेवी (रघुवीरप्रसादसिंह), पंत और महादेवी (शान्तिप्रिय द्विवेदी), क्रिस्टिना रोज्जेटी और महादेवी (शचीरानी गुर्टू)। दो समीक्षाएं पुस्तक परिचय देती हैं—नीरजा (विजयेन्द्र स्नातक, तथा दीपशिखा (नगेन्द्र)। श्री मन्मथनाथ गुप्त और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'दर्शन' समझाते हैं तथा सुधांशु, विनयमोहन शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, इन्द्रनाथ मदान, रामविलास शर्मा समूची कविताओं का मूल्यांकन करते हैं। इस प्रकार काव्य-समीक्षा में भी एक योजना दिखाई पड़ती है। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। इस खंड में पुनरावृत्तियाँ सबसे अधिक हुई हैं। सबने दुःखवाद, पीडावाद, रहस्यवाद का राग अलापा है। मीरा और महादेवी की तुलना के विषय में अब बात इतनी साफ हो चुकी है कि स्वतन्त्र निबन्ध देना ही व्यर्थ है। 'पंत और महादेवी' में शान्तिप्रिय जी ने तुलना करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है परन्तु उस निबन्ध का उपयोग करने में सम्पादिका से त्रुटि हुई, क्योंकि समूचा निबन्ध मूलतः पंत पर है। क्रिस्टिना रोज्जेटी के साथ महादेवी की तुलना, तुलना-प्रिय शचीरानी जी की कृति है और उनका उद्देश्य है महादेवी की अतृप्ति तथा असंतोष को उभारना। इससे अधिक और कुछ हो तो वह दूरारूढ है। इस विषय में स्वयं शचीरानी जी भी मुगालते में नहीं हैं। इससे निबन्ध का सबसे बड़ा महत्त्व, रामविलास शर्मा के शब्दों में, यही है कि शचीजी ने महादेवी को देवी की जगह मानवी रूप दिया है। वे कहती हैं: "महादेवी और क्रिस्टिना के काव्य में जो भावों की उत्कट तीव्रता, मर्मान्तक वेदना और अंतर का हाहाकार व्यक्त हुआ है—वह अलौकिक अथवा आध्यात्मिक विरह-गर्भित न होकर लौकिक प्रणय की सहजानुभूति से उद्भूत हुआ है और काल्पनिक आवरण में लिपटकर उत्तरोत्तर रहस्यपूर्ण और अविज्ञेय होता गया है।"

शेष निबन्धों में रामविलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा नगेन्द्र के लेखों को छोड़कर अन्य यान्त्रिक तथा पिष्टपेषित हैं। विनयमोहन जी को 'महादेवी जी के काव्यों में प्रकृति से परिचय पाना शहराती ड्राइंग-रूम के फर्श पर वन प्रांगण की हरी दूब को खोजने के समान अप्राकृत प्रयत्न' लगता है और स्वयं हरसिंगार, शेफाली, दुपहरिया के फूलों को भिन्न-भिन्न नहीं एक ही फूल मानते हैं। कहाँ हरसिंगार, और कहाँ दुपहरिया यानी अड़हुल। इसी प्रकार ओमप्रकाश जी ने 'यामा' का आलंकारिक सौन्दर्य रूपक, उपमा, अपह्नुति और सबसे ऊपर सागरूपकों में दिखाकर प्राचीन अलंकार-शास्त्रीय यान्त्रिकता का भौंड़ा रूप खड़ा किया है।

शेष तीन महत्त्वपूर्ण लेखों में रामविलास शर्मा का निबंध सबसे महत्त्वपूर्ण तथा चिन्तनशील है, क्योंकि उसमें उक्त सभी समीक्षकों के महादेवी-सम्बन्धी विचारों का हवाला देकर गहराई से विचार किया गया है। डॉ० शर्मा ने सबसे पहला प्रश्न 'छायावाद' के स्वरूप पर उठाया है क्योंकि 'महादेवी जी छायावाद के मध्याह्नकाल से और अपने जीवन के उष.काल से साहित्य-रचना करती आई हैं।' अस्तु वे वाजपेयी जी और नगेन्द्र जी के आदर्शवादी दृष्टिकोण की सीमाओं का निर्देश करते हुए कहते हैं: "हिन्दी का छायावादी साहित्य सामंत-विरोधी औद्योगिक क्रांति के

वाद का साहित्य नहीं है। वह साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष-काल का साहित्य है। उसमें सबसे सशक्त देश की स्वाधीनता और जनतंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा का स्वर है।" फिर अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य तथा हिंदी छायावादी साहित्य का अन्तर बतलाते हुए वे कहते हैं : "अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य का एक सीमान्त समाजवादी विचार-धारा को छूता है तो दूसरा आदर्शवाद (आइडियलिज्म) की विभिन्न धाराओं में डूबा हुआ है। हिन्दी के छायावादी साहित्य का एक सीमान्त साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी विचार-धारा को छूता है तो दूसरी ओर सामन्तवाद का समर्थन करने वाली अनेक आदर्शवादी धाराओं में डूबा हुआ है। इनके अतिरिक्त छायावादी या रोमांटिक साहित्य के दूसरे सीमान्त निर्धारित करना एक इतिहास-विरोधी कार्य होगा।"

नगेन्द्र जी ने छायावाद के साथ ही महादेवी जी की कविता को मानसिक दमन और अतृप्तियों से उत्पन्न कहा है जिसको स्पष्ट करते हुए डॉ० शर्मा कहते हैं कि यूरोप की उस पतित पूँजीवादी धारा को छायावाद से एकाकार नहीं किया जा सकता; छायावाद में अतृप्त-भावना है पर उसकी मूल प्रेरणा वही नहीं है : "इसमें सन्देह नहीं कि महादेवी जी के काव्य में पीड़ावादी पलायनवादी तत्त्व मौजूद है, लेकिन इनकी उत्पत्ति और स्थिति का सही कारण तब हम अच्छी तरह जान सकेंगे जब हम इनके विरोधी तत्त्वों पर भी दृष्टिपात करेंगे और दोनों के परस्पर-सम्बन्ध जानने की कोशिश करेंगे।"

इसके बाद रामविलास जी ने महादेवी में जीवन की चाह, नारी-सुलभ हठ, स्वाभिमान, शृङ्गार-भावना, प्रेम की विह्वलता तथा कष्ट सहने का साहस आदि सोदाहरण दिखलाया है। अन्त में उनका यह तर्क सत्यता के अधिक निकट है: "यदि जीवन और सौन्दर्य की चाह प्रकट करने वाली कविता दमित इच्छाओं के ही कारण हो तो जितने भी जीवन और सौन्दर्य के कवि हैं वे सब दमित इच्छाओं के शिकार साबित हों और जितने भी मृत्यु और कुरूपता के कवि हैं, वे सब तृप्त इच्छाओं वाले समझे जायं।" वस्तुतः नगेन्द्र जी ने अज्ञेय आदि आधुनिक प्रयोगवादी कवियों की दमित इच्छाओं को महादेवी पर भी आरोपित कर दिया है जब कि भेद स्पष्ट है।

डॉ० शर्मा ने महादेवी जी की पीड़ा का सामाजिक कारण बतलाते हुए ठीक कहा है—सामन्त-विरोधी सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन से दूर रहना ही मुख्य कारण है। उन्हीं के शब्दों में "महादेवी जी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौन्दर्य की आकांक्षा का स्वस्थ मानववादी पक्ष भी है। उनके अन्दर एक विद्रोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार नहीं दिखा सकी। उन्हें जनता से हार्दिक सहानुभूति है और वे उससे संपर्क स्थापित करती हैं—यह उनका संबल है। जिस दिन यह सहानुभूति सक्रिय रूप लेगी, उनके द्वन्द्व का भी अन्त हो जायगा।"

रामविलास जी के निष्कर्षों से हम लगभग सहमत हैं, परन्तु दो बातों का निर्देश आवश्यक है। एक तो उन्होंने यह नहीं दिखलाया कि महादेवी जी के इस निराशा और आशामूलक अन्तर्द्वन्द्व का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ; दूसरा यह कि आज भी उनमें पीड़ा और जीवन-चाह का अनुपात ऐसा नहीं है कि हम उन्हें इतना विद्रोही कह सकें। फिर भी समूची पुस्तक में एक-मात्र डॉ० शर्मा का निबन्ध ऐसा है जिसमें महादेवी जी को सही वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टि से

देखने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में शची जी का 'अपने दृष्टिकोण से' तथा जैनेन्द्र जी का वार्तालाप भी काफी मनोरंजक है। शची जी के शब्द-जाल में भी तथ्य के कुछ कण हैं।

निस्सन्देह यह संग्रह महादेवी जी पर अब तक की प्रकाशित सभी पुस्तकों से उत्तम है।[1]

महावीर अधिकारी

जैसा हमने देखा

मुझे एक रोग है, जो बार-बार के उपचार के बाद भी नही जाता। रोग यह है कि अच्छाई को पकड़ने की क्षमता पर मुझे अपने आगे किसी की प्रतिभा पर भरोसा नहीं होता। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' द्वारा सम्पादित प्रस्तुत संस्मरण-पुस्तक मेरे हाथ मे थी तो यह रोग मुझ पर फिर सवार हो गया था, लेकिन इस पुस्तक मे संग्रहीत कई संस्मरणो को पढ़कर मेरी ऑखो मे ऑसुओ की ऐसी गंगा उमड़ आई थी, जिसके आगे किसी भी रोग का ठहरना मुश्किल है।

यो संस्मरण आलोचना के विषय नही होते। किसी की महानता का किसी के मानस पर अमुक प्रभाव ही क्यो पड़ा, पड़ा तो शिथिल क्यो रहा, ऐसा प्रश्न करने का हक किसी को हासिल होना नही चाहिए, पर फिर भी कुछ नुक्ते ऐसे है जरूर जिनके प्रति हमारा विवेक ऑसुओ मे भीगकर भी उलटा निखरता ही है।

इस पुस्तक मे चरित-नायक भी हिन्दी के महान् लेखक है और संस्मरणकार भी हिन्दी के जाने-पहचाने लेखक हैं। पर ये सभी संस्मरण हैं, इससे सहमत होना कठिन है। संस्मरण की परिधि मे किसी व्यक्तित्व के आखिर कौन-से क्षण आने चाहिएं? स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के संस्मरण मे श्री कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लिखे गए एक वाक्य की भावना से मैं सहमत हूँ कि "छोटी बातें ही मनुष्य के चरित्र का दर्पण होती है...मनुष्य अकेले मे जो करता है, यदि हम उस पर दृष्टि रखे...तो सच्चे जीवन-चरित्र लिखे जाने की समस्या बहुत-कुछ हल हो जाय।" संस्मरण किसी महानता के स्तम्भ की वह अदृश्य ईंट है जिनसे मिलकर वह स्तम्भ बना होता है। अधिक खुलासा करके कहे तो यह कि संस्मरण किसी के जीवन के उन क्षणों का अंकन है जिनसे वह विराट मानव-समाज की इकाई के रूप मे निजता से जीता है। व्यक्तित्व की महानता का आकलन संस्मरण की व्याख्या मे नहीं आ सकता, वैसा काम जीवनी-लेखन अथवा साहित्य के मूल्यो का आकलन कहायगा। इस दृष्टि से यह पुस्तक सम्पादित नहीं, मात्र संकलित प्रतीत होती है, क्योकि पुस्तक के सभी लेखक इससे भली-भॉति परिचित न होगे—ऐसा मेरा विश्वास नही है।

संस्मरण-साहित्य की शक्ति अथवा प्रेरणा के बारे में कुछ चर्चा करना भी आवश्यक है।

---

१. सम्पादिका—शचीरानी गुर्टू, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

संस्मरणकार की रचना मे वह शक्ति होनी चाहिए कि उसे पढ़कर आप अनायास ही महानता के समुद्र मे गोते लगाने लगे और अनजाने ही इतनी शुचिता प्राप्त कर ले कि चरित नायक की पुनीत आत्मा का प्रकाश आपकी आत्मा मे मुखर हो उठे और आप अपने गुण-कर्म सहित अपने चारो ओर की दुनिया से ऊपर उठने या आगे बढने की प्रेरणा प्राप्त कर सके। यदि कोई संस्मरण ऐसा नहीं करता तो यह कहना पड़ेगा कि महानता से आत्मसात् होने वाला सवेदनशील हृदय आपके पास नही है—यदि है तो आपका अंकन कला-विहीन है, या कहिए कि आपका चरित-नायक ही मानवता का कोई उदात्त उदाहरण नही है, पर यह मान्यता कोई दुराग्रही ही कर सकता है।

दिवंगत लेखको को लेकर लिखे गए संस्मरणो मे सर्वश्री श्रीराम शर्मा, लक्ष्मीनारायण-सिह 'सुधांशु', विनोदशंकर व्यास, कृष्णानन्द गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के संस्मरण श्रेष्ठ है और इनमे भी श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' द्वारा स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द पर लिखा गया संस्मरण सर्वश्रेष्ठ है, जिसमे संस्मरण के सभी गुण पूरी संवेदनशीलता, प्रखरता और ओजस्विता के साथ वर्तमान हैं। मैंने अभी-अभी अग्रेजी के प्रख्यात संस्मरणकार श्री दिलीपकुमार राय की 'एमंग्स दी ग्रेट' नामक पुस्तक पढ़ी। शैली के सौष्ठव, चिन्तन के उच्च दार्शनिक स्तर के बावजूद भी यह पुस्तक मुझे ऐसी नही लगी कि संस्मरण के पात्रो की महानता अथवा मानवता से आप इतने अभिभूत हो उठें कि अपने जीवन मे उन महान् तत्त्वो का समीकरण करने के लिए बेचैन हो जायें। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के संस्मरण मे महानता का जागरूक आकलन, शैली का सौष्ठव, संवेदन के टकारने की हूक और वार्ता-कौशल द्वारा चरितनायक के गम्भीर जीवन-गिरि मे से विचार रत्नो का उत्खनन, कमाल के साथ एक सूत्र मे पिरोये हुए हैं। इन चारो संस्मरणो मे कमो-बेश एक-से ही गुण हैं और उनका असर आप पर हफ्तो तक सॉय-सॉय की तरह गूँजता रहेगा। एक पाठक की हैसियत से मेरी पुस्तक इन्हे पढ़ते-पढ़ते अजस्र अश्रु-धारा से गीली हो चुकी है। उपरोक्त संस्मरण क्रमशः पण्डित पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक हरिऔध, महाकवि प्रसाद, अमरशहीद गणेशशंकर विद्यार्थी और बाबू प्रेमचन्द को लेकर लिखे गए है। इनके अतिरिक्त चार संस्मरण है—आचार्य द्विवेदी जी, पण्डित श्रीधर पाठक, बाबू श्यामसुन्दरदास, इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल। जिन्हे लिखा है क्रमशः सर्वश्री हरिभाऊ उपाध्याय, बनारसीदास चतुर्वेदी, चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा और लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने। शब्द-योजनाओ और बहुमूल्य जानकारी के बावजूद भी वे उन चरितनायको के जीवन की काष्ठभूत, घटनाबद्ध अनुक्रमणिका-मात्र है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की ख्याति के साथ न्याय करने के लिए सम्पादक को अधिक श्रम करके कोई संस्मरण निकालना चाहिए था। या उनसे मॉगना चाहिए था। इस वर्गीकरण के न्याय को इससे अधिक विस्तार देना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं, इच्छा रहते हुए भी।

संग्रह मे कुल १७ संस्मरण है। शेष आठ जीवित साहित्यकारो के विषय मे हैं। इनमे श्रेष्ठता की दृष्टि से श्री विष्णु, श्री भगवतशरण उपाध्याय और सुश्री महादेवी की, संस्मरण नहीं, श्रद्धाञ्जलियाँ बेहतर हैं। श्री उपाध्याय जी की श्रद्धाञ्जलि संस्मरणात्मक है। इनके चरित-नायक क्रमशः सर्व श्री जैनेन्द्रकुमार, राहुल सांकृत्यायन और अवढर दानी निराला हैं। यह मानने मे मुझे आपत्ति नहीं कि जीवित लेखको के विषय मे लिखे गए संस्मरणों में अपेक्षित गुणो का

आविष्कार करना अपेक्षाकृत कठिन है। ये सभी रचनाएं सम्भवतः संस्मरण-स्वरूप लिखी भी नहीं गई हैं। शेष रचनाएं सर्वश्री रायकृष्णदास, बच्चन, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', रामइकबालसिंह 'राकेश', तथा सुधीन्द्र द्वारा क्रमशः सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी तथा हरिभाऊ उपाध्याय के विषय मे लिखी गई हैं। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व मे 'चीज उनको तभी जचेगी जब वह सवा सोलह आने खरी हो' वाले गुण की जानकारी प्राप्त करके हर्ष हुआ। बच्चन जी ने अपनी शैली के चलताऊपन से सुमित्रानन्दन पन्त को हल्का बना दिया है। यद्यपि 'कमलेश' जी ने सुश्री महादेवी वर्मा से इण्टरव्यू लेते वक्त समय और सैक्स का संकोच स्वयं निवेदित किया है तथापि अपनी पैनी और अनुभूति-सजग प्रतिभा से उन्होने हिन्दी की इस महान् लेखिका का सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर दिया है। डॉ॰ सुधीन्द्र ने श्री हरिभाऊ उपाध्याय जी के विद्रोह पर अपोलोजी लिखी है—जिससे पाठक पर साहित्यिक प्रभाव पड़ने की उम्मीद करना ही व्यर्थ है।

सम्पादक ने अपने वक्तव्य मे हिन्दी मे संस्मरण-साहित्य के स्थान का आदि और वर्तमान स्थापित करते हुए उसके भविष्य की ओर विद्वत्तापूर्वक संकेत किया है। सभी संस्मरणो मे चरित-नायको के सुभाषितो का अच्छा-खासा संकलन किया गया है और स्वयं कुशल लेखको ने अनेक वाक्य-रत्नो की सृष्टि की है। यह पुस्तक एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके चरित-नायक वह महान् हस्तियाँ हैं जिनका अस्तित्व समय की परिधि को लाँघकर मानवता का कल्याण करता है, और समाज के दुःख सुख, वैषम्य, शोषण-उत्पीड़न को सहर्ष झेलता हुआ अपने हाथ मे ज्ञान की मशाल लेकर आने वाली पीढ़ियो को राह दिखाता है। इसके सम्पादक और प्रकाशक ऐसे प्रयत्न के लिए साधुवाद के पात्र है। अन्य सम्पादको और प्रकाशको को इस दिशा मे अगले कदम रखने के लिए इससे प्रेरणा अवश्य मिलेगी।[1]

सूर्यनारायण व्यास

कालिदास-ग्रन्थावलि

कालिदास के साहित्य का हमारे यहाँ अभी तक उतना अनुशीलन नहीं हुआ है, जितना होना चाहिए। संस्कृत के विद्वानो मे अध्ययन की प्रवृत्ति तो है, परन्तु वहाँ परम्परा के प्रभुत्व के कारण मूल ग्रन्थो का ही प्रचलित शैली मे अध्ययन-अध्यापन होता है। इस कारण कवि की जिन विशेषताओ की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए—नहीं दिया जाता, अध्ययन कर लेने पर भी पढ़ने वाला उसी शैली मे सोचने लगता है, उसको स्वतन्त्र दृष्टि से कवि के हार्द को समझने की क्षमता प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि कालिदास के साहित्य का प्रचार अपेक्षाकृत कम हुआ। कुछ लोग ही ऐसे हैं जिन्होने कवि की व्यापक दृष्टि को समझने का प्रयत्न किया है। उनमें से महाराष्ट्रीय, बंगाली और गुजराती ही अधिक हैं। कालिदास के साहित्य, उसके समय,

१. सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', प्रकाशक—शंकर प्रकाशन, अलीगढ़।

स्थल आदि के विषय मे जितना अनुशीलन-अध्ययन महाराष्ट्र या गुजरात मे हुआ है, उतना अन्य प्रान्तो मे नही। यही कारण है कि कालिदासीय साहित्य पर जितनी अधिक रचनाएं इन प्रदेशो मे हुई, उतनी हिन्दी-भाषी प्रदेशो मे नही हुई। हिन्दी भाषा मे इस ओर अनुराग प्रेरित करने का सर्वाधिक श्रेय स्वर्गीय द्विवेदी जी को प्राप्त है। उन्होने 'सरस्वती' के द्वारा अनेक बार इसकी चर्चा की। फलतः कुछ अनुवाद और रचनाएं प्रकट हुई है। किन्तु हमने कभी यह सोचने का प्रयत्न नही किया कि शेक्सपियर, गेटे, बॉयरन, कीट्स के देश के निवासी कालिदास पर इतने मुग्ध क्यो हैं? क्या वे कवि के काव्य या नाटकीय सौन्दर्य पर ही अनुरक्त रहे हैं? अवश्य ही कालिदास के काव्य एव नाटक का सौन्दर्य अद्भुत और अप्रतिम है। उसमे उसकी कला का चरम विकास हुआ है। पर उस कला तक ही उसका क्षेत्र सीमित नही रहा है—'मेघदूत' केवल विरह-काव्य ही नहीं है, वह एक वैज्ञानिक तथ्य भी है, इतिहास और भूगोल का तथ्यपूर्ण वर्णन भी है। उसके एक-एक श्लोक को लेकर विद्वानो और इतिहासविदो मे गम्भीर विवाद और चर्चा चलती रहती है, एक छोटे से खण्ड-काव्य के होते हुए भी उसके निर्माण के बाद अब तक अखण्ड अनुशीलन होता रहा है। फिर भी समाधान नही होता। इस छोटे से काव्य के दुनिया की कितनी भाषाओ मे कितने अनुवाद हुए है और हो रहे हैं। इस रस निर्झर से निरंतर झर-झर कर रस निकलता ही जा रहा है। पीने वालो को परितृप्ति ही नहीं मिलती, 'और पिए जा, और पिए जा!' की पुकार लगी रहती है। यही हाल कवि की अन्य कृतियो के लिए भी है। क्या 'रघुवश', क्या 'कुमार-संभव' और क्या 'शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र'! एकाधिक बार पढ लेने पर भी परितोष नहीं होता। हर बार वह अपनी नव वय को लिए मनोहरण करने को प्रस्तुत है। विद्वानो ने इन ग्रन्थो के अनुशीलन मे अपनी समस्त प्रज्ञा-शक्ति को लगा दिया है। फिर भी वे उनके अन्तर मे रहने वाले रहस्य को निरखने के लिए निरन्तर यत्नशील बने हुए है। कालिदास एक-मात्र कवि हैं जिसने अपनी रचना मे सत्य-तथ्य का प्रतिष्ठान किया है। उसमे भारतीय आदर्श-संस्कृति सजग है। समस्त देश का भूगोल, प्रकृति, समाज, शासन, आश्रम, जीवन, मर्यादा और अन्तर्दर्शन स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। प्रकृति और पुरुष का ऐसा सुन्दर समन्वय और मनोवैज्ञानिक तथ्य अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त होता। ऐसे ही कारणो से कवि विश्वाराध्य बना हुआ है। परन्तु खेद यह है कि हमने हजारो मील दूर रहने वाले कवि-कोविदो के प्रति जितनी अनुरक्ति जतलाई, उतनी कालिदास के प्रति नहीं। इसका एक कारण तो हमारा विदेशी शासन रहा है और दूसरा कारण कवि के साहित्य का संस्कृत मे होना। हमने छः हजार मील से आने वाली भाषा मे तो प्रवीणता पाने का प्रयास किया, किन्तु अपने देश की, अपनी सभ्यता की भाषा संस्कृत को उससे भी हमने दुरूह समझा, हिन्दी को भी हमने उपेक्षणीय समझा। उसमे लिखना, माने हुए लोगो के लिए सम्मान-सूचक नहीं समझा जाता था। आज राष्ट्रभाषा बन जाने पर भी हम अभी पराई भाषा में ही विचार करते हैं, सोचते हैं। इसका फल यह है कि हमारे साहित्य का जनता मे उतना प्रवेश नहीं हुआ। संस्कृतज्ञो की दृष्टि मे हिन्दी भाषा या अनुवाद उपेक्षणीय रहता आया है और अंग्रेजी-भक्तो के लिए तो संस्कृत भी अंग्रेजी से ही जानने की चीज रही है। 'मृत भाषा' को क्यो मूल्य दिया जाय? मैं यह बहुत नम्रतापूर्वक प्रकट करना चाहता हूँ। मेरी 'श्रेय' लेने की कोई कल्पना या कामना भी नहीं है, किन्तु तथ्य होने के कारण ही कहना पड़ता है कि १९३७ की यूरोप-यात्रा के पश्चात् जब मैंने

स्वदेश वापिस आकर 'कालिदास-समिति' का सूत्रपात किया और सार्वदेशिक प्रवृत्ति आरम्भ की, तब सभी प्रान्तो के विद्वानो और सास्कृतिक जनो का मुझे सहयोग मिला। कालिदास के प्रति कौन ऐसा होगा जिसे अनुराग न हो, वही अनुराग उद्‌बुद्ध बनकर सक्रिय हो गया। इस अवसर पर अनेक रचनाएं प्रकाश मे आई, साहित्य-निर्माण भी हुआ, संस्थाएं भी समक्ष आई। मेरे स्नेही स्वर्गीय श्री ईशदत्त जी ने स्वयं कालिदास पर हिन्दी मे बहुत ही सुन्दर काव्य निर्मित किया (पटना से प्रकाशित)। सहृदय सुहृद् श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने स्मृति मनाने के लिए काशी मे जिन प्रवृत्तियो को जाग्रत बनाया, उनमे प्रमुख थीं—'कालिदास' नाटक का निर्माण और उसका सफल अभिनय। उस क्रम मे विक्रम-परिषद् की प्रतिष्ठा हुई और महर्षि मालवीय जी महाराज का मार्ग-दर्शन भी मिला। उसी का यह प्रतिफल है कि 'कालिदास-ग्रन्थावलि'-जैसा बृहदाकार प्रकाशन प्रस्तुत हो गया। आलोच्य प्रकाशन उक्त ग्रन्थावलि का द्वितीय संस्करण है। इसमे कालिदास के समस्त प्रमुख प्रसिद्ध काव्य-नाटको का संग्रह है। ग्रन्थावलि तीन खण्डो मे विभाजित हुई है। प्रथम खण्ड मे 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'मेघदूत' और 'ऋतु-संहार' काव्य का समावेश है। आरम्भ मे मूल काव्य और नीचे क्रमशः उनका भाषानुवाद दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय खण्ड मे नाटक, क्रमशः 'अभिज्ञान शाकुन्तल,' 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' हैं। इनका भी आरम्भ मे मूल रखकर नीचे प्रतिपृष्ठ भाषानुवाद दिया गया है।

आरम्भिक दोनो खण्डो मे श्री चतुर्वेदी जी ने काव्य और नाटको की अनेक प्रतियो को देखकर यथासम्भव शुद्ध पाठ देने का प्रयास किया है। और अनुवाद की भाषा बहुत सरल सर्वगम्य, और कथा-प्रवाह की तरह सुसंगत बना दी है। पाठो की विविधता और मतभेदो के रहते हुए सर्वथा शुद्ध पाठ देने का कार्य सरल नही है, फिर भी संपादक ने सर्वप्रचलित और सुसंगत पाठ गृहीत किए हैं। जब तक मतभेदो का अन्त नही हो जाता और सर्वानुमति प्राप्त नही होती तब तक किसी पाठ-विशेष के विषय मे निर्भ्रम हो जाना सम्भव नही, तथापि ग्रन्थावलि के पाठ उपलब्ध साधनो के अनुसार बहुमत प्राप्त है। अनुवाद यद्यपि 'कई सज्जनो' के द्वारा किये गए हैं, फिर भी उनमे सरसता और सरलता के अतिरिक्त संगति है। हाँ, कुछ प्रान्तीय शब्दो के कारण थोड़ा अटपटापन कहीं-कहीं आ गया है। जैसे—कमाद, बायना, तिम्नी आदि, परन्तु ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हैं, बहुत कम हैं। प्रथम खण्ड मे ३६६ पृष्ठो मे चारो काव्य, और उनका अनुवाद आ गया है। इसी तरह ३५७ पृष्ठो मे तीनो नाटक, और उनका अनुवाद पूर्ण हो गया है। ग्रन्थावलि मे कालिदास का समस्त साहित्य एक जगह सानुवाद आ गया है। यह वास्तव मे बहुत बड़ी बात है। इसके पूर्व ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ। शेक्सपियर आदि विदेशियो की रचनाओ के ऐसे अनेक प्रकार के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कालिदास के ग्रन्थो का यह सर्वगम्य संग्रह प्रथम ही है, इसलिए प्रधान सम्पादक श्री चतुर्वेदी जी और उनके विद्वान् सहकारी प्रशंसा के अधिकारी है। इस विशाल संग्रह मे प्रत्येक काव्य और नाटक के मूल तथा अनुवाद के साथ काव्य-नाटक की विशेषता, विविधता, मतभेद के विषयो की चर्चा भी आलोचनात्मक रूप मे दे दी जाती तो यह संग्रह और भी बहुमूल्य बन जाता। काव्य-नाटको के काल-निर्णय पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता थी। प्रत्येक ग्रन्थ का आलोचनात्मक विशद परिचय पाठको के लिए रोचक और उपादेय होता। ग्रन्थावलि मे 'कालिदास का अध्ययन' कागज की कठिनाई से दिया न जा सका। यह वास्तव में खेद की बात बन गई है। कागजी दुर्व्यय को देखते हुए ग्रन्थावलि-

जैसे महान् पूर्ण प्रकाशन मे यह बाधा न आती तो कितना सुन्दर होता।

ग्रन्थावलि का १६८ पृष्ठो का तीसरा खण्ड अत्यन्त महत्त्व का है। प्रथम संस्करण में कुछ विद्वानो के लेख थे, इस संस्करण मे और भी कुछ लेख संग्रहीत हो गए हैं। इसमे सन्देह नहीं कि यह खण्ड अत्यन्त महत्त्व का है और कुछ विद्वानो की सूझ तो बहुत मौलिक महत्त्व रखती है। डॉ० राजबली पांडेय का विक्रमादित्य तर्क शुद्ध है। किन्तु वह संक्षिप्त है। 'विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ' मे उन्होने उस पर विशद विचार किया है। 'कालिदास ग्रन्थावलि' मे तो पांडेय जी कवि को लेकर ही चर्चा करते तो विशेष उपयोगी होता। विक्रम और कालिदास का सम्बन्ध जन-श्रुति मे तो है, किन्तु ऐतिहासिक संगति जुड़ाने के लिए प्रमाण-परिश्रम आवश्यक है। इस ग्रन्थ के लिए वही आवश्यक था। ईशदत्त जी के 'विक्रम और उनके नवरत्न' मे संक्षिप्त परिचय-मात्र है, पर विक्रम के साथ नवरत्नो की ऐतिहासिक संगति विद्वानो की दृष्टि मे विवाद का विषय बनी हुई है। कालिदास के ग्रन्थो की उपादेयता (सीताराम जोशी) कालिदास के शब्द-प्रयोग (अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय) लेख साधारण हैं। गोस्वामी दामोदरलाल जी ने 'कालिदास के कवित्व की पूर्णता' बहुत प्रौढता से प्रकट की है। गोस्वामी जी की भाषा संस्कृत की तरह ही दुरूह हो गई है, सर्वसाधारण के समझने योग्य नहीं। डॉ० अमरनाथ झा ने कवि के ग्रन्थो से बडी मार्मिक सूक्तियो का सुन्दर संकलन किया है। कालिदास का संदेश आज के युग मे जनता, और शासन —सभी के समझ लेने की चीज है। करुणापति जी ने 'कालिदास और प्रकृति' का जैसा तुलनात्मक परिचय दिया है उसकी अपेक्षा डॉ० बेलवेलकर की 'निसर्ग कन्या शकुन्तला' वास्तव में बहुत ही महत्त्व की वस्तु है। मानव और प्रकृति का जैसा सुन्दर समन्वय डॉ० साहब ने प्रस्तुत किया है, वह एक-मात्र कालिदास-प्रेमी जनो के लिए ही नहीं, सभी विद्वानोके लिए प्रेरणाप्रद होगा। डॉ० आत्रेय ने 'मेघदूत' को 'योग वासिष्ठ' से प्रेरित प्रकट करके विद्वानो के समक्ष एक समस्या खड़ी कर दी है। 'वाल्मीकि रामायण' से तो कवि प्रेरित है, यह 'मेघदूत' के अनेक स्थलो से स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु योग वासिष्ठ में भी 'मेघदूत' की कल्पना प्राप्त हो सकती है, यह सूझ सर्वथा अभिनव है। आत्रेय जी ने श्लोको के तत्सम और भावसाम्य के उद्धरण देकर अपने कथन को प्रस्तुत किया है। योगवासिष्ठ-कर्ता के समय, और कालिदास की स्थिति के विषय मे यह समस्या भी एक पहेली का कार्य करेगी। 'मेघदूत' मे 'शिव-स्वरूप' की कल्पना पर डॉ० वासुदेवशरण जी का लेख उनके गम्भीर अध्ययन और मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। गुजरात के स्वर्गीय केशव भाई ध्रुव जी ने भास और कालिदास के छन्दो के सामंजस्य से काल-निर्णय करने मे सहायता ली है, किन्तु ग्रन्थावलि मे रामगोविन्द शुक्ल जी ने केवल कालिदासीय साहित्य के छन्दो की विविधता और उनके प्रयोग की वास्तविकता पर सुन्दर व्याख्या की है। सम्पादक श्री चतुर्वेदी जी ने कालिदासीय काव्य मे आये हुए व्यक्ति, जीव, वस्तु और स्थल का एक जानकारी से भरा हुआ 'अभिधान-कोष' बड़े श्रम से तैयार किया है। यह बहुत उपयोगी है और साहित्य के पाठको के लिए सहायक होगा। यदि प्रत्येक काव्य और नाटको मे आए हुए स्थल, जीवन और वस्तुओ का यह कोष उस-उस काव्य-नाटक के साथ ही (उस ग्रन्थ मे प्राप्त नामो तक ही) अलग-अलग जोड़ दिया जाता तो विशेष हितकर होता। फिर भी यह सर्वथा उपयोगी बन गया है। रामकुमार जी चौबे ने अन्त मे कालिदास-सम्बन्धित ग्रन्थो, लेखो, तथा पत्रों की एक सूची दे दी है, यह बहुत अपूर्ण है। इसमे प्रायः अंग्रेजी के ग्रन्थो तथा लेखों का ही परिचय आ सका है,

हिन्दी के पत्रों एवं लेखों का ब्योरा इसमें पूरा नहीं है। 'सरस्वती' द्वारा आचार्य द्विवेदी जी के काम की सेवा का भी स्मरण इसमें नहीं हुआ है। मराठी, गुजराती और मद्रासी भाषा में जो विपुल साहित्य और लेख निकले हैं, उनका कहीं उल्लेख नहीं है। 'विक्रम' को भी भुला दिया गया है। पटना के 'किशोर' का 'कालिदास-अंक' भी भुलाने की चीज नहीं है। अंग्रेजी को ही सूची में प्रधानता दी गई है, तथापि वह अध्ययन करने वालों के लिए उपयोगी है। अंत में एक मान चित्र भी है। जो कालिदास कालीन भारत की कल्पना प्रस्तुत करता है। इतने भव्य-संग्रह ग्रन्थ में कुछ मुद्रण-दोषों का रह जाना स्वाभाविक है, पर ये खटकने-जैसे नहीं हैं, पुस्तक अपने प्रकार की एक ही है। कालिदास के समस्त ग्रन्थों को सानुवाद एकत्रित करके सम्पादकों ने निःसन्देह बृहत् श्रम, और व्यय-भार वहन करके प्रशंसनीय साहस का कार्य किया है।[1]

उदयशंकर भट्ट

सांख्य-दर्शन का इतिहास

सांख्य-दर्शन मनुष्य जाति के बुद्धि-विकास के आधार पर निर्माण किया गया सर्वप्रथम दर्शन है। कहा जा सकता है कि यह वेदों और उपनिषदों का प्रतिक्रियात्मक रूप है, जिसमें मनुष्य ने पहेलियों, भ्रान्तियों और रूढ़ धारणाओं से मुक्ति पाकर उसका निर्माण किया। विद्वानों का विश्वास है कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व कपिल ने उसी देश में इस दर्शन का आविर्भाव किया जिस देश में आगे चलकर महावीर तथा बुद्ध ने अपने-अपने दर्शनों की उद्भावनाएं कीं। कपिल ने सबसे पूर्व ईश्वर पर अविश्वास प्रकट करते हुए मनुष्य की बुद्धि को स्वतन्त्र-चिन्तन के लिए प्रेरित किया तथा प्रत्यक्ष एवं बुद्धिगम्य दृश्यमान प्रकृति के रूप-वैचित्र्य को देखकर उसका विवेचन, वर्णन और उसके द्वारा मनुष्य को निरन्तर सोचने के लिए उन्मुक्त कर दिया। मेरा विचार है कि जीवन-दर्शन की यह पहली कसौटी थी जिस पर कसकर कपिल ने इस विचार-धारा को जनता के सामने रखा और उसी का प्रभाव अन्य भारतीय जैन-बौद्ध-दर्शनों पर पड़ा। इस दर्शन ने न केवल भारत में अपना अनश्वर प्रभाव डाला अपितु ग्रीक और रोमन लोगों की दार्शनिक विचार-पद्धति को प्रभावित किया। न्यू प्लेटोनिज़्म के कारण सिद्धान्तों में एक प्रकार की उथल-पुथल मचा दी। और कपिल के इन सिद्धान्तों ने एक प्रकार से प्लेटो की छायामयी तथा परिवर्तित सृष्टि के रूप में धक्का लगाया।

कदाचित् इसी उत्कट प्रभाव को देखकर कपिल का उल्लेख उपनिषदों, ब्राह्मणों, महाभारत और अन्य ग्रन्थों में प्रथम विचारक दार्शनिक के रूप में हुआ है। और सांख्यकार कपिल को नास्तिक से आस्तिक सिद्ध करने की पूर्ण चेष्टाएं हुई। वस्तुतः कपिल के इन क्रान्तिमान् विचारों की एक परम्परा थी, जो न केवल भारत में प्रत्युत उससे बाहर भी लोगों को प्रभावित करती रही। इसी कारण कुछ विद्वान् कपिल को अनैतिहासिक मानते हैं। वे मानते हैं :

---

१. सम्पादक—सीताराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।

"That Kapil, the first teacher of सांख्य, in fact the first enlightened human being during the cycle was not a historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt."

यहाँ इन ऊपर की पंक्तियों का उल्लेख करने से मेरा तात्पर्य यह दिखाना है कि अत्यधिक विचार-प्राधान्य की व्यापकता के कारण वह व्यक्ति स्वयं एक विचार-धारा बन गया।

कपिल ने प्रकृति (Matter) को मुख्य और उसका संगी जीवात्मा को माना है। ईश्वर नाम की किसी शक्ति की उसने कल्पना नहीं की। यही सबसे प्रथम विद्रोही और बौद्धिक विचारणा थी, जिसके आधार पर उसने सृष्टि-व्यवस्था के प्रकारों को स्वीकार किया। उसने मूल प्रकृति को त्रिगुणात्मक सत्व, रज और तम इन तीन भागों में बाँटा। सतोगुण को प्रकाशमय, आनन्दमय, रजोगुण में उत्तेजना, दुःख, गति और तमोगुण में उदासी, शिथिलता, विगति स्वीकार करके सूक्ष्म और स्थूल प्रकृति की कल्पना की। उसके मत में जीव नित्य, निर्गुण, अविभक्त, अनश्वर हर्ष-शोक-रहित है। विचार, दृष्टि, सूक्ष्म उसमें सब प्रकृति के सहयोग से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की विचार-धारा ने भारतीय चिन्तन क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी और यज्ञ तथा उपासना-प्रधान ग्रन्थकारों एवं विचारकों के मस्तिष्क को स्फूर्तिमान किया।

एक तरह से कपिल के अनीश्वरवादी दर्शन की पद्धति स्थूल से सूक्ष्म की ओर थी जब कि अन्य आस्तिक दर्शन सूक्ष्म की कल्पना करके स्थूल जगत् के विचार की ओर चले। इस दृष्टि से कपिल की विचार-धारा ने संसार-भर के अनीश्वरवादी दर्शनों को एक नई चेतना, नई सूझ दी। महाभारत के एक श्लोक से सिद्ध होता है कि सांख्य ही सबसे पहले दार्शनिक थे, जिन्होंने प्रकृति की समुचित विवेचना के लिए उसकी संख्या की और प्रकृति का वास्तविक रूप-दर्शन करके उसे चौबीस भागों में बाँटा। इससे पूर्व उपनिषद् उसे ब्रह्ममय मानते रहे। कपिल ने प्रकृति और पुरुष दो की कल्पना की तथा प्रकृति को प्रधान मानकर सारे कार्य-व्यापार उसी के आधार पर सिद्ध किए। और आगे चलकर भारतीय दार्शनिकों में कणाद ने परमाणुवाद, जैनों ने प्रकृति-परमाणुवाद तथा बौद्धों ने क्षणिकवाद स्वीकार किया, जो एक तरह से थोड़े भेद के साथ कपिल के प्रकृतिवाद से ही मिलता-जुलता है। कपिल की विचार-धारा में ईश्वर का अभाव होते हुए भी जीव का मोक्ष का भाव है अर्थात् हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान, जिनके द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता है। आश्चर्य है कि कपिल इन्हीं चारों प्रकारों को उलट-फेर के साथ मोक्ष के लिए वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन सभी ने स्वीकार किया है। अन्य दर्शनों में से ईश्वर की प्रतिपत्ति किसी-न-किसी रूप में है, किन्तु कपिल ने 'उसकी असिद्धि' कहकर उसका प्रत्याख्यान कर दिया है। यद्यपि सांख्य के ऊपर लिखने वाले ऐसे भी विचारक हैं जिन्होंने छब्बीसवाँ तत्त्व मानकर ईश्वर की सिद्धि की है। स्वयं याज्ञवल्क्य ने महाभारत में चौबीस जड़ तत्त्व, पच्चीसवाँ चेतन पुरुष और छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर की सिद्धि की है। आशय यह है कि बुद्धिपूर्वक होने वाली विश्व की घटनाओं में ईश्वर को न मानकर आत्मा का चमत्कार स्वीकार करने में सांख्य-बौद्ध-जैन आदि नास्तिक दर्शन प्रायः एकमत हैं।

कपिल ने जो प्राय. एक परम्परा भारतीय दर्शनों को दी वह है तत्त्व-चिन्तन के साथ जीवन-शुद्धि तथा आत्मा के विकास की विचार-पद्धति जब कि रोमन और ग्रीक विचारक केवल तत्त्व-चिन्तक ही थे। जैसा कि हमने कहा कपिल की इस विचार-धारा का प्रभाव प्रायः सभी

अनीश्वरवादी पाश्चात्य-पौरस्त्य दर्शनो पर पड़ा है, तथा प्रकृतिवाद का यह सिद्धान्त कि संवेद्य वस्तु या पदार्थ संविति से बाहर स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान रहते है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष की पृथकृता। इसी विचार-सरणी पर प्राय: सभी अनीश्वरवादी दार्शनिक चले है। वस्तुत: साख्य दर्शन एक विचार है और योग उसका क्रियात्मक रूप, आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार के लिए। कदाचित् इसी कारण गीता मे साख्य-योग को पृथक् नही माना गया है।

साराश यह कि कपिल का दर्शन अपनी क्रान्तिकारी विचार-पद्धति तथा नये दृष्टिकोण के कारण सभी दार्शनिको की विचार-धारा का मूल स्रोत रहा है और उसने कुछ कमो-बेश के साथ आज की भौतिक विचार-सरणी को भी नई वैज्ञानिक चेतना—स्फुरणा दी है। इन सभी कारणो से उसका अपना महत्त्व है। अब आवश्यकता थी कि उस दर्शन का विशद विवेचन किया जाता। इधर संस्कृत दर्शनो के प्रौढ़ विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्री ने बहिरंग परीक्षा के रूप मे 'साख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखा है। शास्त्री जी ने बहिरंग परीक्षा करते हुए बड़ी योग्यता एवं विद्वत्ता से साख्य-शास्त्र सम्बन्धी भ्रान्तियो के निराकरण की चेष्टा की है। ५३६ पृष्ठ के इस ग्रन्थ मे उन्होने साख्य-दर्शनकार कपिल के जन्म, काल, निवास-स्थान आदि पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। उन्होने पाश्चात्य-पौरस्त्य सभी विद्वानो की शकाओ, विचारो का निरसन करते हुए उनके सम्बन्ध मे अपने मत रखे है। महर्षि कपिल के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का विचार है कि ऐसा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हुआ। दूसरी बात, कपिल का वर्तमान साख्य दर्शन ईश्वरकृष्ण की कारिकाओ की प्रतिलिपि है, और तीसरी बात है कपिल का अनीश्वरवादी होना।

शास्त्री जी ने पुष्ट प्रमाणो द्वारा बहिरंग परीक्षा करते हुए अपने मत व्यक्त किये है। वस्तुत: कपिल नाम के कई व्यक्ति हुए है। किन्तु यह सभी मानते हैं कि साख्य-शास्त्रकार महर्षि कपिल आदि-दार्शनिक हैं। उन्होने आसुरि को साख्य-शास्त्र का ज्ञान दिया।

कपिल के स्थान का वर्णन करते हुए लेखक कहता है :

"कपिल का उत्पत्ति-स्थान वर्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर की ओर आस-पास ही था। यही पर कर्दम ऋषि का आश्रम था जो सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर तथा ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा मे अवस्थित था।"

लेखक ने श्रीमद्भागवत के आधार पर बिन्दुसर के आस-पास बहुत प्रमाणो द्वारा कपिल का स्थान निश्चित किया है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या 'साख्य दर्शन' के रचयिता यही कपिल थे ? जो नास्तिक तथा अनीश्वरवादी थे। यदि शास्त्री जी इस दृष्टिकोण से विचार करते तो कदाचित् उनको स्थान-निर्धारण करने मे सुविधा होती, क्योकि एक जगह स्वयं शंकराचार्य ने वेद-विरोधी होने के कारण कपिल के मत पर आपत्ति की है। कपिल के सम्बन्ध में योग-सूत्र के व्यास भाष्य मे लिखा है कि—'आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्टाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षि-रासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।' इसी के आधार पर कविराज गोपीनाथ जैसे कुछ विद्वानो का मत है कि कपिल ने केवल भौतिक शरीर से ही न रहकर जिज्ञासु आसुरि को षष्टितन्त्र पढ़ाया। अर्थात् उन्होने सिद्ध शरीर धारण करके आसुरि को ज्ञान दिया।

निश्चय ही शास्त्री जी नहीं मानते कि कपिल कोई अनैतिहासिक सिद्ध देही व्यक्ति थे। किन्तु मालूम होता है कपिल को सिद्ध करते हुए वे स्वयं कहीं उलझ गए है। और इतने कपिलो मे से केवल भागवत् के कपिल को ही उन्होने ठीक माना है। ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय प्रकरण

बहुत गम्भीर और विवेचनापूर्ण ढग से लिखे जाने पर भी पुनर्मननीय हैं। तीसरे प्रकरण मे सृष्टि-तन्त्र पर विचार किया गया है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि कुछ विद्वान् लोग सांख्य-सूत्रो को सांख्य-कारिका के बाद की रचना मानते हैं। या यह मानते है कि वर्तमान सांख्य-सूत्र सांख्य-कारिका के आधार पर रचित हैं। लेखक ने प्रत्येक का मत देकर उनका खंडन करते हुए इस प्रकरण मे सांख्य सूत्रो में प्रक्षेप बताये है। छठे प्रकरण मे सांख्य-सूत्रो के व्याख्याकारो का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि सांख्य-सूत्रो की व्याख्याएं कदाचित् वेदान्त को छोड़कर इतनी और किसी दर्शन पर नही हुईं। सातवे प्रकरण में सांख्य-सप्तति के व्याख्या-कारो के समय आदि के सम्बन्ध मे खोज की गई है। और आठवे प्रकरण मे, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, सांख्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों का वर्णन है। वस्तुतः यह प्रकरण विषय और उद्देश्य की दृष्टि से अपने ढंग का महान् है। हमे इससे मालूम होता है कि लगभग तेतालीस ऐसे आचार्य हैं जिन्होने सांख्य-दर्शन का आचार्यत्व पाया है। यह परम्परा महाभारत और उसके बाद तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही है।

संपूर्ण पुस्तक मे एक-एक व्यक्ति के कई नाम कई जगह आ जाने के कारण लेखक को व्यक्ति-निर्धारण मे बहुत प्रयत्न करना पडा है। और उसने जहाँ भी उनके नामो का उल्लेख हुआ है, सोदाहरण उनका उल्लेख किया है। कही-कहीं उद्धरण इतने बड़े हैं कि प्रसंग गडबडा गया है और विवेचना शिथिल हो गई है। कपिल के जन्म-स्थान की तलाश मे ब्रह्मावर्त का पूरा आलोडन अप्रासंगिक हो उठा है। इसी तरह विदेह, पतंजलि आदि के प्रकरण कहीं-कहीं भारी हो उटे है।

इसमे तो सन्देह नही कि लेखक ने बड़ी ईमानदारी और बुद्धिमत्ता से काम किया है, किन्तु ऐसा लगता है कि कहीं विवेचन, उद्धरण-आधिक्य, विस्तार-वर्णन ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के लिए किया गया है। मेरा विश्वास है यह ग्रन्थ ५३६ पृष्ठ की बजाय चार सौ पृष्ठो के भीतर पूरा हो सकता था। डॉ० वासुदेवशरण की भूमिका तथा डॉ० मंगलदेव के प्राक्कथन होने पर भी ग्रन्थ का अपना महत्त्व काफी बडा है। बहिरंग परीक्षा के रूप में प्रणीत इस ग्रन्थ का पूर्ण रूप द्वितीय भाग मे दिखाई देगा। शास्त्री जी की विद्वत्ता भी उसी मे ज्योतिष्मान होगी, फिर भी मेरा विश्वास है कि उनके इस प्रयत्न से संस्कृत-साहित्य का सारा अनुसंधान-जगत् उपकृत होगा।[1]

डॉक्टर भगवतशरण उपाध्याय

पाटलिपुत्र की कथा
(मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन)

प्रस्तुत पुस्तक 'पाटलिपुत्र की कथा' या मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार की आधुनिक कृति है, जिसके प्रकाशन का श्रेय प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी एकेडमी नाम की शोध-संस्था को है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के लेखक के रूप मे जाने हुए

१. लेखक—उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक—विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर।

विद्वान् हैं। इतिहास के क्षेत्र में उनकी और भी कुछ कृतियाँ इधर उधर देखने मे आई हैं। वैसे भी वे पेरिस के डी० लिट्० है और साधारणतः यह आशा की जा सकती है कि उनके द्वारा प्रणीत इतिहास का ऐतिह्य उपेक्षणीय न होगा और उनकी शैली वैज्ञानिक होगी। परन्तु अभाग्यवश ऐसा कुछ नहीं है और प्रस्तुत ग्रन्थ जितना ही लेखक की ऐतिहासिक समीक्षा पर व्यंग्य है उतना ही एकेडमी के प्रकाशन पर भी एक बड़ा धब्बा है। मुझे इस पुस्तक को पढ़कर अत्यन्त निराशा हुई, ग्रन्थकार के अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतनी ही जितनी एकेडमी के इस असुन्दर प्रकाशन से। जीवन मे मैंने शायद इतनी असुन्दर और भोंडी पुस्तक नहीं देखी। कागज इतना खराब है कि लगता है कि एकेडेमी ने विशेष यत्न से इसको प्राप्त किया होगा। छपाई इतनी बुरी है कि उसके लिए भी सम्भवतः उसे प्रेस के सम्बन्ध मे विशेष चिन्तन करना पड़ा हो, और इनसे ऊपर जो ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है वह नितान्त अग्राह्य है।

सात सौ से ऊपर पृष्ठो में यह 'पाटलिपुत्र की कथा' सम्पन्न हुई है। इतिहासकार स्वभावतः ही इस पुस्तक मे इतिहास खोजेगा परन्तु वस्तुतः यह 'कथा' ही है, पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा एक विशद पुराण। 'पुराण' शब्द का व्यवहार मै जान-बूझकर कर रहा हूँ। पुराणो मे जिन प्रसंगो का वर्णन है उनकी व्याप्ति अनन्त है। और इसी कारण उन्हे कुछ विद्वानो ने उचित ही विश्व-कोष (एनसाइक्लोपीडिया) की संज्ञा दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी अर्थ मे पुराण है और इसमे पाटलिपुत्र की कथा के प्रसंग मे प्रायः जो-कुछ जाना हुआ है वह सारा दे दिया गया है—महाभारत-काल के बार्हद्रथ राज-कुल से लेकर असहयोग-आन्दोलन तक सब-कुछ। और इस प्रणयन के सम्बन्ध मे ग्रन्थकार आलोचन की दिशा मे सर्वथा उदासीन है। उसे ऐतिहासिक-अनैतिहासिक, प्रासंगिक-अप्रासंगिक, वक्तव्य-अतिशयोक्ति, सत्य-मिथ्या आदि के द्वन्द्व कभी उद्वेलित नहीं करते। जिस प्रकार चूहे के बिल मे सब तरह का अन्न मिल जाता है उसी प्रकार इस पुस्तक मे भी सब प्रकार की कथाएं संकलित हैं। ग्रन्थ के कलेवर को फुलाने मे ग्रन्थकार विशेष अनुरक्त दीखता है। विशुद्ध ऐतिहासिक परम्परा मे यह ग्रन्थ लिखा गया होता तो निश्चय ही किसी भी स्थिति में इसका आकार सौ पृष्ठो से अधिक न होता और तब पाटलिपुत्र की कहानी भी हमारे नेत्रो के सामने मूर्तिमान हो उठती। लेखक ने पाटलिपुत्र के चारों ओर दूर तक एक ऐसा जंगल खड़ा कर दिया है कि उस महाकान्तार मे स्वयं पाटलिपुत्र सर्वथा खो गया है। हम इस ग्रन्थ मे सब-कुछ ऐसा पढते हैं जो अन्य प्रसंगो मे ज्ञातव्य होता, परन्तु पटना की कहानी के रूप मे तो वह केवल रस-भंग उत्पन्न करता है।

मैं नहीं जानता एकेडमी के वर्तमान कर्णधारों का मन्तव्य इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे क्या रहा है, परन्तु इस सीरीज के मूल प्रवर्तक दिवंगत श्री राय राजेश्वर बली ने जब मुझसे इस विषय की चर्चा की थी तब उनकी भावना स्पष्ट जनता को 'पटना की कहानी' देने की थी। उनका सही विचार था कि गंगा, यमुना, सिन्धु, गोदावरी आदि नदियो की घाटी से और पाटलिपुत्र आदि नगरों के सम्पर्क से भारत में जिन सभ्यताओ और संस्कृतियो का विकास हुआ है वह सरल जीवित और ज्वलन्त कहानी के रूप मे जनता के हाथ मे रख दी जाय, जिससे वह अपने अतीत के मूर्तिमान स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके। इसी से उन्होने इसका नाम भी 'पटना की कहानी' रखना चाहा था। प्रस्तुत ग्रन्थ मे पटना की कहानी तो खो गई है, हाँ मगध की कहानी और वृहत्तर भारत का एक रूप जरूर खड़ा कर दिया गया है जिसमें कौटिलीय अर्थशास्त्र, इण्डिका, कथा-सरित्-

सागर, मुद्राराक्षस आदि का विस्तार भरा पड़ा है और उनके संग्रह मे ग्रन्थकार कहीं भी ऐतिहासिक आलोचना, मूल्यांकन अथवा नाप-तोल की आवश्यकता नहीं समझता। जो-कुछ उसने मौर्य-साम्राज्य के इतिहास आदि के सम्बन्ध मे अन्यत्र लिखा है वह सारा इसमे उतर आया है। कथा केवल पाटलिपुत्र की नही, मगध की नहीं, भारत की नही, बृहत्तर भारत के आदर्श की है।

पाटलिपुत्र भारतीय साम्राज्यो का अनेक बार केन्द्र बना था और उसका इतिहास लिखते समय मगध के साम्राज्य-विस्तार अथवा उसकी शासन-प्रणाली, उसकी रीति-नीति पर कुछ अंश तक प्रकाश डालना अनिवार्य और प्रासंगिक हो ही जायगा। परन्तु निश्चय ही इसी से गौण को प्रधान मान लेना ऐतिहासिक दृष्टिकोण की भयानक विडम्बना है। प्रस्तुत ग्रन्थ भ्रान्ति-मूलक है, अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है।

ग्रन्थकार की शैली इस सम्बन्ध मे यह है कि वह मौर्यों का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से दिखाकर मौर्यों आदि का इतिहास वैयक्तिक राजाओ के घटना वृत्त के रूप मे, उनकी शासन-प्रणाली और प्रासंगिक-अप्रासंगिक सभी अनुवृत्तो को, कथा मे भर देता है। प्रमाणतः यदि किसी कारण अशोक के राज्य-विस्तार का वर्णन पाटलिपुत्र की कथा के प्रसग मे आवश्यक समझा जाय तो नही समझ पडता कि उसके शिला-लेखो आदि का विवरण और सविस्तर अध्ययन, उसके सम्बन्ध की पौराणिक बौद्ध ख्यातो और दन्त-कथाओ का वर्णन, बौद्ध-संगीति द्वारा भेजे धर्म-प्रचारको का विदेशो मे सविस्तर उल्लेख, साथ ही शुङ्ग-कालीन सॉची, भारहुत आदि की मूर्ति-कला अथवा अजन्ता की चित्र-कला किस प्रकार पाटलिपुत्र की कथा का अन्तरंग बन सकती है। अजन्ता की कला गुप्तो की समकालीन हो सकती है, और अधिकतर है भी, परन्तु कितनी भी बुद्धि-विस्तार से क्या यह कहा जा सकता है कि वाकाटको और चालुक्यो के उस संरक्षण मे गुप्त-कला की भी प्रेरणा थी? क्या उत्तर भारत मे अजन्ता की भॉति भित्ति-चित्रो के अवशेष है और क्या बाघ की गुफाओ के भित्ति-चित्र अजन्ता से अनुप्राणित न होकर अजन्ता के चित्राचार्यों को प्रेरणा देते हैं? पुस्तक इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक अप्रासंगिक तत्त्वो से भरी है। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग और ले।

पाटलिपुत्र नगर का निर्माण उदायीभद्र ने कराया और वस्तुतः उसकी कथा का आरम्भ उसी प्रसंग से होना चाहिए था। तब आरम्भ के प्रायः सौ पृष्ठ अनावश्यक हो जाते। उदायी से पहले के इतिहास पर केवल कुछ अनुच्छेदो द्वारा प्रकाश डाला जा सकता था और महाभारत-काल से अजातशत्रु तक के साम्राज्यो और राजकुलो के वर्णन की आवश्यकता न होती। इसी प्रकार सोलह महा जनपदो का सविस्तर व्याख्यान, जैन और बौद्ध धर्मों की शिक्षाएं तथा उनके प्रवर्तको के निःशेष जीवन का उल्लेख, बृहत्तर भारत मे बौद्ध धर्म के प्रचार का इतिहास, मौर्यकालीन जगत् की कला-कृतियो का वर्णन, 'अर्थशास्त्र' का ग्रन्थगत बृहत् संस्करण, जिसका विस्तार तीन-तीन अध्यायो तक है, नितान्त अनावश्यक था। ऐसे ही आन्ध्र सातवाहनो, भार शिव नागो और वाकाटको का विस्तृत वंश-परिचय, गणराज्यो का विशद उल्लेख, बृहत्तर भारत का विकास, गुप्तकाल की बहिरंग स्थिति आदि अप्रासंगिक विषयो की विवेचना भी निरर्थक हुई है। वस्तुतः पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ पर ऐतिहासिक तर्क-सम्मत दृष्टिकोण की कमी और अप्रासंगिक विषयो की खिचड़ी लक्षित होती है। इतिहास में जिन प्रसंगो का उल्लेख किसी प्रकार भी क्षम्य न होगा उनका बाहुल्य पाठक की आँखो में खटकने लगता है।

इस सम्बन्ध मे एक बात और यह है कि लेखक ने सम्भवतः पाटलिपुत्र की कथा हिन्दू-

काल के अन्त तक ही सीमित रखनी चाही थी। और इसी कारण उसने पृष्ठ ६३१ पर ग्रन्थ का 'उपसंहार' भी लिख डाला। इसी से सम्भवतः व्याख्या रूप में उसने ग्रन्थ का वैकल्पिक नाम 'मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन' भी रखा है। इस नामकरण का प्रभाव ग्रन्थकार की लेखनी पर कुछ कम नहीं हुआ। वस्तुतः इसीसे ग्रन्थ हिन्दू दृष्टिकोण से लिखा गया मगध के साम्राज्यो की एक अवैज्ञानिक प्रशस्ति बन गया है। यही कारण है कि हिन्दू काल के बाद का साढ़े सात-सौ वर्षों का अद्यावधि पाटलिपुत्र का इतिहास सर्वथा उपेक्षणीय और अक्षम्य हो गया है। ६३२ पृष्ठो के विरोध मे ७८ पृष्ठो मे पटना की यह अटूट कहानी फिर भी ग्रन्थकार के अज्ञान अथवा जल्द-बाजी से अपेक्षाकृत सुन्दर बन पड़ी है।

कुछ ऐतिहासिक भ्रान्तियो पर भी यहाँ एक नजर डालना शायद बेजा न हो। पृष्ठ ६ पर ग्रन्थकार ने बृहदारण्यक उपनिषद् के विदेहराज जनक और राम के श्वसुर सीरध्वज जनक को एक मान लिया है जिससे एक कालक्रम-दूषण उपस्थित हो गया है। विदेहो की अध्यात्म परम्परा उपनिषत्काल मे उठी, महाभारत के प्रायः दो सौ वर्ष बाद। पृष्ठ २६ पर जरासन्ध के बाद के बाईस राजाओ के शासन-काल का कुल योग ६४० वर्ष बताते हुए ग्रन्थकार यह सर्वथा भूल गया है कि ससार के इतिहास के प्रतिकूल ४६ वर्षों के शासन-काल का वैयक्तिक औसत सर्वथा अग्राह्य होगा। शासन-काल तो अलग रहा, एक कुल के पुरुषो के जीवन-काल का औसत भी २० वर्ष से अधिक नहीं रखा जाता, राज्य-काल की अवधि और भी कम मानी जाती है, प्रायः पन्द्रह वर्ष। पृष्ठ ४२ पर राज-गृह को वज्जियो के आक्रमणो से बचाने का जो लेख है वह गलत है, क्योकि उसके प्राचीरो का निर्माण वज्जियो के विरोध मे नही बल्कि अवन्ति के चन्द्र प्रद्योत महासेन से रक्षा के लिए हुआ था। वज्जियो से लोहा लेने के लिए पाटलि-दुर्ग का निर्माण गंगा और शोण के कोण मे हुआ था। पृष्ठ ४७ पर प्रसेनजित् को विद्वान् लेखक अजातशत्रु का 'नाना' लिखता है, जो गलत है। अजातशत्रु की विमाता कोशलदेवी प्रसेनजित् की कन्या नही बहन थी, और निश्चय ही प्रसेनजित् की जिस कन्या वजिरा से अजातशत्रु ने विवाह किया वह उसकी विमाता कोशलदेवी की बहन न थी, भतीजी थी। पृष्ठ ६२ पर लेखक ने महा पद्मानन्द को गोदावरी के प्रदेश मे स्थित अश्मक महाजनपद का स्वामी माना है जो स्वीकार नही किया जा सकता। पृष्ठ ६७ पर विद्वान् ग्रन्थकार ने प्राचीन आर्यो को एक ईश्वर का उपासक माना है, यह सर्वथा असत्य है और इसकी असत्यता उस पर सहज ही प्रकट हो जायगी जो ऋग्वेद को उलट-मात्र लेगा। उसी सिलसिले मे ग्रन्थकार अपनी धारणा व्यक्त करता है कि पहले यज्ञ हिंसा-रहित होते थे। बाद मे पशु-हिंसा से युक्त हुए। यह अन्थ्रोपालोजी (नृ-शास्त्र) और एथनालोजी के सारे सिद्धान्तो के विरुद्ध है। सर्वत्र मानव जाति मे मानव और पशु-हिंसा-युक्त यज्ञो का प्रारम्भ मे प्राधान्य हुआ, जो धीरे-धीरे हिंसा-वृत्ति से विलग कर लिये गए। ग्रन्थकार का दृष्टिकोण प्रमाणतः दयानन्दी है। पृष्ठ १०६ पर सिकन्दर को ग्रीक राज्यो का विजेता कहा गया है, जो गलत है। उनका विजेता सिकन्दर का पिता फिलिप था। अगले पृष्ठ पर लेखक लिखता है कि कठ, क्षुद्रक, मालव आदि को जीतने के बाद सिकन्दर व्यास नदी के किनारे आ पहुँचा। यह भी गलत है, क्योंकि क्षुद्रक और मालव गणो से सिकन्दर का मुकाबला व्यास नदी के तट से लौटने के बाद हुआ था। कम्बोज को विद्वान् लेखक ने पामीरो के उत्तर मे बदख्शाँ माना है और उसे, जैसा पृष्ठ ११६ पर और अन्यत्र लिखा है, मौर्यों की शासन-सीमा मे रखा है। वह इस बात को भूल जाता है कि बदख्शाँ

और पामीरो की वह उपत्यका प्राचीन बाख्त्री है, ग्रीको की प्रसिद्ध बैक्ट्रिया, जिस आधार से दिमित आदि ग्रीक राजाओ ने भारत पर पाटलिपुत्र तक आक्रमण किया था। यह भू भाग कभी मौर्यो के अधिकार मे आना तो दूर रहा, अशोक के शासन-काल मे सिरीया का एक प्रान्त था जो पार्थीया-के साथ उससे विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गया। कम्बोज कम-से-कम मौर्य-काल मे बदख्शॉ का नाम न था, यद्यपि उसकी स्थिति काश्मीर के प्रायः ठीक उत्तर मे थी। इसी प्रकार पृष्ठ १२१ मे मदुरा का बिन्दुसार के शासन मे होना गलत है। पृष्ठ १६६ पर चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्बन्धी (भद्रबाहु के साथ) श्रावणबेलगोला को अभिनिष्क्रमण ग्रन्थकार सम्प्रतिका बताता है। पृष्ठ २०४ पर ग्रन्थकार शालिशुक के शासन-काल मे पाटलिपुत्र पर यवनो का आक्रमण मानकर भी उनका नेतृत्व डेमेट्रियस से भिन्न करता है जिसका नतीजा यह होता है कि वह सर्वथा भ्रम के गर्त मे गिर जाता है। एक ओर तो जैसा उसके अन्यत्र के उल्लेख से सिद्ध है (पृष्ठ ३२६) वह डेमेट्रियस को पुष्यमित्र का आक्रान्ता नही मानता, साथ ही खारवेल को उसका विजेता मानता है। पर इस बात को वह भूल जाता है कि खारवेल के शिलालेख में दिमित का उल्लेख होने से डेमेट्रियस खारवेल का सम-कालीन हो जाता है और शालिशुक का विजेता होने से जहॉ वह शालिशुक और खारवेल का समकालीन है वहॉ पुष्यमित्र का नही हो सकता। वास्तव में खारवेल भी पुष्यमित्र का समकालीन या विजेता नही। कथा-सरित्सागर के आधार पर सातकर्णि को काश्मोर का राजा मान लेना (पृ० ३४६) सभी ऐतिहासिक उसूलो के विरुद्ध है। और मगध के सातवाहनो का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने जो उनके मगध पर शासन की व्यवस्था दी है उस प्रसंग मे वह भूल जाता है कि उनके कृष्णा-गोदावरी-तटवर्ती-साम्राज्य और मगध के बीच शीघ्र शको के दो प्रबल राजकुलो का पच्चर ठुक गया। पृष्ठ ३२७ पर पतञ्जलि को विदिशा का निवासी बताना उन सारी प्राचीन अनुश्रुतियो और परम्पराओ के विरुद्ध है जो महाभाष्यकार को गोनर्द (उत्तर प्रदेश का गोडा जिला) का निवासी घोषित करती हैं। वास्तव मे इतिहास-सम्बन्धी इतनी भूलें इस ग्रन्थ मे है कि उनकी तालिका-मात्र एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर देगी।

भाषा तो किसी प्रकार परिष्कृत नही कही जा सकती। आज दिन भी ग्रन्थकार उन्नीसवीं सदी की ही भाषा का व्यवहार करता है। भाषा का यह चमत्कार पृष्ठ-पृष्ठ पर देखा जा सकता है। फिर विदेशी नामो के प्रयोग मे भी उसे कमाल हासिल है। सारी दुनिया और प्राचीन ग्रीक तक 'मकदूनिया' बोलते-लिखते थे, पर हमारा लेखक उसे अंग्रेजी ढग से मैसेडोनिया ही लिखेगा। उसका 'एण्टियोकस दि ग्रेट' प्रयोग तो बे-जोड़ है। भाषा फिर भी विषय और मुद्रण-परिष्कार आदि के अनुकूल ही है।

मै फिर भी सन्तुष्ट होता यदि हिन्दुस्तानी एकेडमी का नाम इस पुस्तक के साथ संयुक्त न होता। ऐसी पुस्तको से इतिहास और हिन्दी का कलेवर न सजे तो अच्छा हो।[1]

१. लेखक—सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।

प्रत्यालोचना

'क़ैद और उड़ान' पर 'मानव' जी

प्रिय शिवदान जी,

'आलोचना' के पहले अंक में श्री विश्वम्भर 'मानव' द्वारा की गई अपने दो नाटक-संग्रहों-'कैद और उड़ान' तथा 'आदि मार्ग' की आलोचना पढ़ी। जहाँ मैं इस आलोचना को लिखने के लिए लेखक का और उसे छापने के लिए आपका आभारी हूँ, वहाँ इसके सम्बन्ध मे एक दो बातें भी कहनी है।

जब से मेरे कुछ नाटक विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम मे लगने शुरू हुए है, तब से उनके सम्बन्ध मे कई तरह की प्रशंसाएं या आलोचनाएं मुझे पढ़ने को मिलती रहती है। उनमे से किसी का उत्तर देना मैंने कभी इसलिए आवश्यक नही समझा कि उन आलोचनाओ की स्थूलता और नाटक के सम्बन्ध मे आलोचकों का उथला ज्ञान स्वतः सिद्ध होता है।

जहाँ तक रंगमंच के ज्ञान का सम्बन्ध है, इसमे हिन्दी के आलोचकों का अधिक दोष नहीं। हिन्दी का रंगमंच अभी जन्म ले रहा है और यदि आलोचक उसकी आवश्यकताओं और यथार्थताओं से अनभिज्ञ हैं तो कोई बड़ी बात नहीं, किन्तु बिना नाटक का गहन अध्ययन किये हुए उस पर भी चन्द पंक्तियाँ घसीट डालना कोई बहुत अच्छी बात नही। पर मानव जी गम्भीर आलोचक हैं और अपनी जिम्मेदारी के प्रति जागरूक हैं और आपकी 'आलोचना' एक बड़े उद्देश्य को लेकर निकली है, इसलिए मैंने मानव जी की इस आलोचना के सम्बन्ध मे कुछ बातें लिखकर अपना दृष्टिकोण भी पाठक के सामने रखना आवश्यक समझा है।

जहाँ तक 'कैद और उड़ान' के पहले नाटक 'कैद' का सम्बन्ध है, मानव जी ने उस पर सबसे अधिक लिखा है, जिससे मैं समझता हूँ कि कम-से-कम उसे उन्होंने ध्यान से पढ़ा है और उसका कोई दोष उनकी दृष्टि से नहीं बचा। गुण की बात इसलिए नहीं कि वे उसमे कोई गुण नहीं ढूँढ़ पाए।

मैं स्वयं उक्त नाटक लिखने के बाद उससे सन्तुष्ट न था। आज भी नहीं हूँ, यद्यपि नाटक की प्रशंसा मे मुझे इतने पत्र मिले हैं जो एक अच्छे-भले लेखक का दिमाग खराब कर सकते हैं। 'कैद' को लिखने में लगभग तीन वर्ष लग गए। मैंने इसे कई बार लिखा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटक मँज-सँवरकर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हो गया है, पर उसमें ऐसी

घुटन, कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसा अँधेरा आ गया जिसके पार कोई भी रोशनी की किरण न थी। जाने अथवा अनजाने मे यह नाटक ग़ालिब के शेर :

कैदे-हयात-गम, असल मे दोनो एक हैं
मौत से पहले आदमी गम से निजात पाये क्यो ?[1]

की तफसीर हो गया है। यह ठीक है कि अप्पी नायिका होने के नाते उस कैद की सबसे बड़ी शिकार है और उसका ग़म उसके जीवन के साथ जायगा। पर ध्यान से देखा जाय तो प्राणनाथ या दिलीप या वाणी कोई भी उससे मुक्त नही, अपनी परिस्थितियो और उससे जनित गम से नजात उनमे से किसी के भाग्य मे नही। शायद यही कारण था कि उर्दू मे इस नाटक का नाम "कैदे-हयात"—जीवन कारा—रखा गया। हिन्दी मे जीवन-कारा इसलिए न रखा जा सका कि गालिब के उस शेर के रियायत से उर्दू मे उन शब्दो को जो अर्थ मिल गए हैं, वे हिन्दी को मुयस्सर नही। हिन्दी मे 'जीवन-कारा' शीर्षक कुछ आध्यात्मिक-सा प्रतीत होता है जब कि नाटक घोर सत्य पर अवलम्बित है।

मुझे 'क़ैद' से इसलिए असन्तोष नही कि उसमे कला की दृष्टि से कोई त्रुटि रह गई अथवा वे दोष रह गए जिनकी ओर श्री मानव जी ने संकेत किया है। नाटक के मुख्य पात्र मेरे सामने थे। काश्मीर के उस सौन्दर्य के बीच, उनके जीवन की उदास परिस्थितियाँ और तज्जनित दुःख मेरे सामने था और मैंने उसका (कम-से-कम जहाँ तक उस जीवन के दुःख, घुटन और उदासी का सम्बन्ध है) हू-ब-हू चित्रण कर दिया। असन्तोष हुआ मुझे नाटक के उतने उदास और सँकरी अंधी गली के-से अवरुद्ध अन्धकार को देखकर। मानव जी ने जो बात सुझाई है, वैसी मुझे पहले न सूझी हो अथवा और किसी ने न सुझाई हो, ऐसी बात नही, उस समय नाटक के तीन अन्त मेरे सामने आये :

१. अप्पी अपने बच्चो को चूम ले और उन्हीं मे अपने नये जीवन की आशा को देखे।

२. दिलीप ने उसे अपरूपता मे सौन्दर्य देखने का जो पाठ पढ़ाया है, उसके अनुसार वह अपने वातावरण के दुःख मे सुख की आभा ढूँढे।

३. जो कि अब है।

पहले दोनो अन्तों मे से मैं इसलिए कोई न रख सका कि वे मुझे झूठे लगते थे। अप्पी जवान है, दिलीप की याद को वह भूल नहीं पाई। उसका घाव अभी तक हरा है। उस घाव ने उसके जीवन को एकदम शिथिल कर दिया है। अपने पति से (जिसके हृदय की सुन्दरता के बावजूद जिसके शरीर से वह तीव्र घृणा करती है) वह अभी तक घुल-मिल नही सकी, चूँकि घुल-मिल नहीं सकी इसलिए उसके द्वारा पाये गए अपने बच्चो से वैसा स्वस्थ प्यार नहीं कर सकी, जैसा कि किसी अपने पति की प्रेयसि और पति को सचमुच अपना प्रिय समझने वाली नारी करती है। उसने पहले दिलीप से प्यार न किया होता तो वह अपने पति से घृणा करने के बावजूद अपने बच्चो से प्यार करती। पर उसका प्यार तो सन्न पड़ा है। जिस स्थिति मे कि वह है, वह अपने बच्चो से भी स्वस्थ प्यार नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति मे नाटक के अन्त में प्रबल मानसिक आघात सहने पर, अपने छोटे-से सुख-स्वप्न को यों अपनी रक़ीब के हाथो छिन्न-भिन्न

१. जिन्दगी की क़ैद और ग़म का बन्धन वास्तव में दोनों एक ही चीज़ हैं। जब तक आदमी जीता है, वह ग़म से नजात क्यों पाए।

होते देख, उसका सहसा अपने पति अथवा बच्चों से प्यार करने लगना अथवा कोई आदर्शपूर्ण-सी बात कहकर प्रसन्न हो जाना मुझे बड़ा अस्वाभाविक और छिछला लगता था। जिस आचरण को मानव जी ने अस्वाभाविक कहा है, मेरे निकट वह और केवल वह ही स्वाभाविक है। यह ठीक है कि कुछ वर्ष बीत जाने पर जब अप्पी के घाव को समय का मरहम भर देगा, जब उसके पति के हृदय का सौन्दर्य उसकी शारीरिक बदसूरती पर हावी हो जायगा, जब वह स्वयं उतनी सुन्दर न रहेगी, वह उस बदसूरती मे निश्चय ही खूबसूरती देखेगी, उन्हीं बच्चों को प्यार करेगी और दिलीप ने जिस जीवन-दर्शन को अपनाया है अथवा जिसे वह अपनाने की कोशिश कर रहा है, उसे कदाचित् अप्पी भी अपना लेगी (और इसीलिए वह जीवन-दर्शन नाटक मे आया है) लेकिन वह तो बाद की बात है। नाटक अप्पी के सारे जीवन का चित्र उपस्थित नही करता, वह केवल उस एक दिन की झाँकी देता है जब अप्पी सहसा अपनी पुरानी स्फूर्ति पाकर उसे फिर खो देती है। और उस क्षण उसका आचरण सिवा झुँझलाहट मे अपने बच्चे को दो चॉटे मार देने अथवा बिलकुल चुप हो जाने के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।

नाटक का उद्देश्य अप्पी के सारे जीवन को दिखाना नही। जीवन के किसी दर्शन का प्रतिपादन करना भी नही। केवल एक सामाजिक कुरीति के दुष्परिणाम और नाटक के पात्रों की सम्भावनाओं की ओर पाठकों अथवा दर्शकों का ध्यान आकर्षित करना है। वे क्या थे, क्या हो सकते थे और क्या हो गए। अप्पी उतनी पढ़ी-लिखी चाहे न हो पर वह सुघड और सस्कृत है, वह बच्चो की देख-रेख जानती है, वह अपने वातावरण को सुन्दर बनाने की प्रतिभा रखती है। पर वह ऐसा नहीं कर सकी। क्यो? इसी 'क्यों' का उत्तर यह नाटक देता है। और अप्पी मे प्राणनाथ और दिलीप शामिल है।

एक और बात है, जिसकी ओर मानव जी ने ध्यान नही दिया। वह है दिलीप और अप्पी के मानसिक स्तरो का अन्तर। नाटक मे ऐसे संकेत है (जो ध्यान से पढने पर ही जाने जा सकते है) कि अप्पी का सामाजिक स्तर चाहे दिलीप के बराबर हो, पर मानसिक स्तर दिलीप से नीचा है। यह ठीक है कि वह कविता करती रही है, लेकिन उसकी वह कविता तुकबन्दी-मात्र थी। वैसी तुकबन्दी जैसी कि नई उम्र के पहले प्रेम मे बहुत-सी लड़कियाँ करने लगती है। दिलीप उसका दिल बढ़ाने को उसकी प्रशंसा भी कर देता रहा है। पर इसका यह मतलब नही कि उसका मानसिक स्तर दिलीप के बराबर है। यही कारण है कि जहाँ दिलीप ने अपना जीवन-दर्शन बना लिया है, वह नहीं बना पाई।

मानव जी पूछते है—"अप्पी को कैद किसने किया?" और स्वयं ही उत्तर देते है कि "उसने स्वयं।" मानव जी की यह धारणा भी उनकी उसी भूल का परिणाम है जो वे दोनो के मानसिक स्तर को एक समझने मे करते है। पहली बात यह कि यदि वह दिलीप से विवाह करना भी चाहती तो न हो सकता था। दिलीप के अभिभावक, उसके बड़े भाई बड़े क्रूर थे और उस रिश्ते के विरुद्ध थे और फिर अप्पी न इतनी पढ़ी थी और न इतनी आजाद कि वह प्राणनाथ से अपने विवाह का विरोध करती। नाटक मे वह कहीं भी बी० ए०, एम० ए० अथवा विलायत पास नही दिखाई गई। (हमारे यहाँ तो बी० ए०, एम० ए० तक माता-पिता की इच्छाओं के आगे हथियार डाल देती हैं।) वह साधारण शिक्षित लड़की है, जो दिलीप से प्यार करती है और भारतवर्ष की लाखो लड़कियो की तरह बिना विरोध किये कैद मे बन्द हो जाती है।

रही बात 'जीवन मे सुख के लिए प्रयत्न करने की!' तो यह माना कि समाज जीवन की

'सारी सुविधाएं जुटाकर, स्थितियो को एकदम मनोनुकूल करके', हमारे सामने न रखे, लेकिन वह चक्की का पाट भी हमारे गले मे न बॉधे, ऐसी तो वाछा की ही जा सकती है। मनोनुकूल साथी की इच्छा स्वतन्त्र समाज मे एक बड़ी बुनियादी इच्छा है। क्या मानव जी सोचते है कि मनोनुकूल साथी पाने के बाद जीवन का संघर्ष खत्म हो जाता है, अथवा जीवन की कोई समस्या नही रहती ? संघर्ष तो वैसा ही रहता है, हॉ मनोनुकूल साथी के साहचर्य मे उसे झेलने की शक्ति बढ जाती है और सघर्ष का दुःख भी सुख देता है। समाज जब प्रतिकूल साथी के रूप मे, जिससे मन तीव्र घृणा करता है, एक बडा चक्की का पाट गले मे बॉध देता है तो उस भार को ढोने मे जीवन की कितनी शक्ति (जो जीवन की दूसरी उपादेय सरगर्मियो मे लग सकती थी) नष्ट हो जाती है, कदाचित् इसकी मानव जी ने कल्पना नही की। किन्तु इसी बात की ओर सकेत करने के लिए मैने यह नाटक लिखा था और उसकी घुटन, उसकी उदासी और अन्धेरे के बावजूद मैं उसे छापने पर विवश हुआ, क्योकि अप्पी ही का नही, सहस्रो दूसरी लड़कियो का जीवन भी उसी तरह कुण्ठित है और यह हमारे समाज का घोर अधेरा, कटु सत्य है।

रहा प्राणनाथ, तो मानव जी को शिकायत है कि उसे 'किंग कांग' क्यो कहा गया, विशेपकर उस रूप मे जब उसका चित्र नाटक मे उभर उठा है। यदि कोई साधारण पाठक यह आपत्ति करता तो मुझे खेद न होता, पर मानव जी-जैसे गम्भीर आलोचक को उसका कारण ढूॅढ़ना चाहिए था। यह सोचकर कि नाटककार का उद्देश्य उसे वैसा चित्रित करने का नहीं था और वह अनजाने मे ऐसा कर गया है या कि उनकी आलोचना शक्ति ही ने उसे खोज निकाला है, अथवा कोई इसी तरह की बात सोचकर मनमानी आलोचना कर देना लेखक के साथ अन्याय करना है। प्राणनाथ से लेखक को सहानुभूति है, इसलिए उसके चित्र को उसने ऊँचा दिखाया है, पाठक के हृदय मे उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो, इसके छोटे-मोटे संकेत बडे सूक्ष्म ढंग से नाटक मे रखे गए है। पर आलोचक के लिए यह देखना जरूरी है कि लेखक का दृष्टिकोण अप्पी का दृष्टिकोण नही और न अप्पी का दृष्टिकोण लेखक का दृष्टिकोण है। न लेखक अप्पी में आत्मसात् है, न अप्पी लेखक में। लेखक प्राणनाथ के जिन गुणो को देखता है, अप्पी नहीं देख पाती। उसके सामने सबसे बड़ी सचाई यह है कि उसका पति बेहद कुरूप है और धन के बल पर उसे उसके दिल्ली के सुख भरे वातावरण से उठा लाया है। अप्पी के माता-पिता उसके निकट नही, जिन पर वह अपना गुस्सा उतारती। इसलिए उसका सारा क्रोध प्राणनाथ पर उतरता है। वह समझती है कि उसके सौन्दर्य पर मिटकर, बिना अपनी उम्र और बदसूरती का खयाल किये उसके मॉ-बाप को कई तरह से बहकाकर (मानजी के जीवन और बहन की दौलत के किसी दूसरी लडकी के हाथों बरबाद करने की बात करके) वह उसे दिल्ली से इस सूने प्रदेश मे उठा लाया है, और वह उसके इस कृत्य मे 'किंग कांग' की बर्बरता देखती है।

पर लेखक अप्पी नहीं। वह प्राणनाथ के कुरूप तन मे भी रूप की प्यास और उस प्यास के आगे उसकी बुद्धि की विवशता देखता है। वह उस मानव की बर्बरता नहीं, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को भी देखता है। वह उस स्थिति के लिए केवल उसे दोषी नहीं समझता, उस सामाजिक व्यवस्था को दोषी समझता है जिसके कारण ऐसा अन्याय सम्भव हुआ। लेखक के सामने यह समस्या है कि वह अप्पी को अप्पी दिखाये, और प्राणनाथ को प्राणनाथ और दिलीप को दिलीप। आलोचक को यह देखना चाहिए था कि नाटक लिखने में नाटककार का

उद्देश्य क्या था और वह उसमें कहाँ तक सफल या असफल रहा। वह उद्देश्य अच्छा है या बुरा, इस पर वह जो भी चाहे बाद मे कह सकता है।

मैं 'कैद' के ही बारे मे इतना कह गया कि और नाटको तथा उनकी आलोचना के सम्बन्ध मे कुछ कहते हुए मुझे बड़ी झिझक होती है। सारी आलोचना पढ़ने पर लगता है कि मानव जी ने नाटक बडी ही सरसरी दृष्टि से देखे हैं। 'छठा बेटा' की कहानी बताने हुए उन्होने लिखा है—"एक दिन सहसा तीन लाख की लाट्री उनके नाम निकल आती है। पॉचो लडके अपना व्यवहार बदल देते है और पिता को शराब पिलाकर सारा रुपया अपने नाम लिखा लेते है। पैसा न रहने पर फिर पिता को साथ रखने की समस्या उठती है। ठीक ऐसे दुर्दिन मे आकर उनका छठा बेटा उनकी सहायता करता है। यह नाटक मनुष्य की घोर स्वार्थ-भावना पर प्रकाश डालता है।"

मुझे ये पंक्तियॉ पढ़कर हॅसी आ गई। यदि ये मानव जी की लिखी न होती और मानव जी अपने-आपको जिम्मेदार आलोचक न समझते तो मै इनका नोटिस भी न लेता।

नाटक मे कोई ऐसी बात नहीं होती। न तीन लाख की लाट्री निकलती है और न दुर्दिन मे छठा बेटा आकर उनकी सहायता करता है वह सब तो पंडित वसन्तलाल स्वप्न मे देखते हैं।

और न यह नाटक मनुष्य की घोर स्वार्थ-भावना पर ही प्रकाश डालता है। पंडित वसंतलाल के पुत्रों से कोई बडा स्वार्थहीन भी होता तो शायद भिन्न आचरण न कर पाता। नाटक यह बताता है कि पूत यदि कपूत होते है तो क्यो होते है? और छठा बेटा तो नाटक मे कही नही आता। वह तो मानव की उस अभिलाषा का प्रतीक है जो कभी पूरी नही होती। अच्छा होता यदि जिम्मेदार आलोचक की तरह मानव जी ने नाटक को दो-एक बार पढ़ा होता। (क्योकि उनकी आलोचना ही नहीं, प्रशंसा भी—जैसे भॅवर की—इसी प्रकार हास्यास्पद और दिलचस्प है) और छः नाटको को—जिनको लिखने मे लेखक ने छः-सात वर्ष लगाये—छः सात घटे मे पढकर निपटाने की अपेक्षा एक ही नाटक को ध्यान से पढकर वे उसके गुण-दोष, या यदि गुण नही तो केवल दोष बताते।

पाठक और लेखक की अपेक्षा आलोचक का कर्तव्य कठिन है और इसीलिए वह ज्यादा श्रम और जिम्मेदारी की मॉग करता है। मैं आलोचना की इस आलोचना के लिए मानव जी से तथा सम्पादक के नाते आपसे क्षमा मॉगता हूॅ। इस चिट्ठी को लिखने मे मेरा उद्देश्य लेखक के नाते अपना दृष्टिकोण पाठको के सामने रखना और आलोचना के महत्त्व को आगे बनाना-भर है। दुर्भाग्यवश मुझे जगह की तंगी का डर है, नहीं तो मै स्वयं बताता कि 'कैद' मे कौन-सी ऐसी बात रह गई जिससे कला की सम्पूर्णता के बावजूद मै इस नाटक से असन्तुष्ट रहा और मै तब तक इसे छपने को न दे सका जब तक मैंने 'उड़ान' न लिख लिया। कभी समय मिले और आप आलोचना के दो-एक पृष्ठ दे तो मैं 'कैद' के दोष अपने दृष्टिकोण से बताऊॅ।

सस्नेह,

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

साहित्य और ललित कलाएं

प्रभाकर माचवे

वास्तु और शिल्प-कला

चित्र-कला के आधुनिक रूपों के और उनकी समीक्षा की शब्दावली के साहित्य की रचना तथा आलोचना पर प्रभाव की चर्चा हम 'आलोचना' के प्रथम अंक में कर चुके हैं। स्थूल ललित-कलाओं मे चित्र-कला से निकट की कलाए हैं शिल्प-कला और स्थापत्य। शिल्प के अन्तर्गत भास्कर्य, पूर्ण या अर्द्ध-उत्कीर्ण मूर्ति-निर्माण जैसे आ जाते हैं वैसे ही शिल्प-शास्त्र शब्द प्राचीन काल मे बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जैसे यन्त्र-शास्त्र के लिए भी। शिल्प का अर्थ कौशल या निपुणता भी रहा है, जैसे मालविकाग्निमित्र मे 'पात्रविशेषन्यस्तंगुणांतरं व्रजति शिल्पमाधातुः' कहा गया है।

शिल्प के बहुत विशाल और सुन्दर नमूने प्राचीन ऐतिहासिक मन्दिरों मे मिलते है। श्रवणबेलगुली या बरवानी के पास की जैन विराट्-मूर्तियों के साथ ही सुन्दर प्रस्तर-शिल्प के उदाहरण एलुरा, भरहुत, कौशाम्बी, साँची, अमरावती और भीटा मे प्राप्त मूर्तियों मे मिलते है। जगन्नाथ पुरी और कोणार्क के मन्दिरों की भाँति चान्दा जिले मे साकली ग्राम के निकट बाणगंगा पर मार्कण्डेय मन्दिर का शिल्प भी मेरी स्मृति पर सदा के लिए अंकित है। वैसे इन पंक्तियों के लेखक ने कई महीने कलकत्ता, मथुरा, सारनाथ, प्रयाग, बड़ौदा और दिल्ली के प्राचीन शिल्प-संग्रहालयों के सूक्ष्म अध्ययन में और उनकी प्रतिकृतियों के अंकन मे बिताए है। 'प्रतिमा' मासिक (कानपुर) के द्वितीयांक मे 'प्राचीन भारतीय शिल्प मे पशु-पक्षी' नामक सचित्र लेख तथा विक्रम-द्विसहस्राब्दि-ग्रन्थ मे उज्जयिनी के मन्दिरों से शिल्प तथा वास्तु के कई चित्र (जो बिना मेरे नामोल्लेख के लेखों के शीर्ष चित्र तथा पुच्छ-चित्र के नाते प्रयुक्त हुए हैं) इसके साक्षी हैं। 'कला-निधि' के लिए भी मेरे कई मूर्ति-चित्र अभी अप्रकाशित हैं।

पाश्चात्य शिल्प-कला के विकास का, विशेषतः यूनानी और इतालवी शिल्पकारों की—यथा माइकेल एंजलो और एपोनियस आदि की महान् शिल्प-कृतियों के चित्रों का भी अध्ययन मैंने किया है। और उत्तरोत्तर मध्य युग मे, गिरजों के अलंकरण मे या राजा या सामन्तों के अश्वारूढ या अन्य प्रकार की व्यक्ति-मूर्तियों मे से होते हुए आधुनिक शिल्प-कला रोदाँ, एपस्टाइन और हेनरी मूर के युग तक कैसे विकसित हुई है यह पूरा इतिहास कम मनोरंजक नहीं। तभी यूनानी अस्थि-पात्र पर अंकित मूर्तियों से प्रभावित होकर कीट्स ने 'ओड' लिखा और प्री-राफेलाइट दल मे एक कवि स्वयं शिल्पी था। हमारे यहाँ ऐसे उदाहरण कम हैं जो स्वयंम साहित्य-स्रष्टा या

कवि हो, और साथ ही शिल्पज्ञ भी। भारत मे जो शिल्प इतना सुविकसित था कि त्रिमूर्ति और नटराज और तारा की भव्य और सुन्दर प्रस्तर, कास्य और मिट्टी की मूर्तियाँ ग्यारहवीं-बारहवीं सदी तक मिलती हैं, वह मध्ययुग मे निर्जीव अनुकरण मे पड़कर नष्ट-प्राय हो गया। उसका आधुनिक विकसित पश्चिम-प्रभावित रूप कुछ गिने-चुने नामो मे ही प्राप्त होता है, जैसे महाराष्ट्र मे म्हात्रे, र० कृ० फडके, करमरकर, बाकरे, आदि और बंगाल मे देवीप्रसाद रायचौधरी, सुधीर खास्तगीर, रामकिंकर, प्रदोषदास गुप्त आदि। भारत मे यह कला अभी पर्याप्त मात्रा मे विकसित नहीं हुई है।

शिल्प से अधिक निकट की परन्तु साहित्य से उतनी ही दूर कला स्थापत्य या वास्तु है। हिन्दी मे वास्तु-कला पर बहुत कम ग्रन्थ हैं। परन्तु स्थापत्य अपने-आपमे एक बहुत मनोरंजक अध्ययन का विषय है। मैंने 'गुम्बद का विकास' नामक एक सचित्र लेख 'सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ' मे दिया है। उसके साथ ही विदेशी तथा देशी वास्तु के कला-रूपो का विशेष रूप से अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि साहित्य को यदि केवल ड्राइंग-रूम तक ही सीमित नहीं रहना है, तो इन सभी गृह-निर्माण-विषयक सौन्दर्य-घन-उपयुक्ततावादी दृष्टियो का साहित्यिक के निकट बहुत अर्थ होना चाहिए। फूस की झोपड़ियो का, गँवई कच्चे मकानो का और एक-सी सौन्दर्य-हीन चालो का वर्णन करना आसान है; परन्तु मध्ययुगीन ऐतिहासिक 'वाड़ो' के या महलो के वर्णन देना सहज नहीं। और तो और बौद्धकालीन उपन्यासो मे विहारो, चैत्यो और संघारामो के वर्णनो मे भूले इस अध्ययन के अभाव के कारण घटित हुई है।

सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से शिल्प और स्थापत्य मे प्रयुक्त द्रव्य उनकी शैली को और प्रभाव को भी निर्णीत करता है। संगमरमर का ताज और लाल पत्थरो की सीकरी को आप अन्यथा नही सोच सकते। रामकिंकर के संथाली परिवार मे कंकरीट के माध्यम की नियोजना अर्थशून्य नहीं है। जिस प्रकार प्राचीन मूर्तियो मे देवताओ की आँखे अम्लान रजत धातु की बनाते थे, उसी प्रकार आधुनिक शिल्प मे भी अन्यद्रव्य का प्रयोग या 'सेटिंग' (जैसे हेनरी मूर के शिल्प में) बहुत मानी रखता है। प्राचीन यक्षिणियो प्रसाधिकाओं या अप्सराओ के चित्रण मे कुछ अतिरंजन मिलता है, परन्तु आधुनिक युग के रोदाँ को भी अपने 'चलते हुए मनुष्य' के धड़ या चिन्तक के सप्तधातु-शिल्प मे अतिरंजन काम मे लाना पड़ा है।

शिल्प की या स्थापत्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है 'मासेज' या आकाश को भरने वाले द्रव्यमान की संयोजना। आधुनिक शिल्प तो अधिकाधिक इसी पर आश्रित हो गया है। साहित्य मे भी 'आकाश-पूर्ति' की समस्या होती है। विशेषतः प्रतीकात्मक रूप से चरित्र-चित्रण या व्यक्तित्व के प्रस्तुतीकरण मे उसकी बहुत सार्थकता है। शिल्प के द्रव्य जिस प्रकार से मिट्टी, पत्थर, काठ, धातु, काँस्य आदि है; साहित्य के भी द्रव्य शब्दार्थ है और उनके नवनवीन अभिधेय तथा उनमे प्रयुक्त परिमाण-व्यंजना बहुत-सी चमत्कृति निर्मित करती है, जो कलानन्द की एक प्रेरक वस्तु है।

पाश्चात्य और भारतीय वास्तु-शास्त्र की तुलना मे हमें कई मजेदार बातें मिलती हैं। हिमालय से विन्ध्याद्रि तक कश्यप संहिता, विन्ध्याद्रि से तुङ्गभद्रा तक भृगु सहिता और तुङ्गभद्रा से नीचे मय संहिता प्रचलित हैं। त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित सोलहवी शती के ग्रन्थ 'शिल्प-रत्न' में कश्यप-पद्धति 'नागर,' भृगु-पद्धति 'द्राविड़' और मय-पद्धति 'विसर' कही गई है। इन संहिताओ के अनुसार शिल्प-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य मनुष्य का सुख है। उसमे पुख्ता नींव और पीछे की

परम्परा को देखकर आगे देखने की बात प्रधान कही गई है। जब कभी कोई इमारत फिर से पक्की बनाई जाय तो उसमे कमजोर हिस्से को और पक्का बनाने की ओर ध्यान दिया जाय यह कहा गया है। शिल्पज्ञ को कृषि शास्त्र जानना जरूरी है।

प्रत्येक वस्तु के वर्ण, लिंग, वय, अवस्था और संस्कार निश्चित है। जैसे अवस्थाओ मे प्रकृति, संस्कृति, संस्कृति और विकृति ये प्रधान हैं। यहाँ तक कि सोने-जैसी बेजान चीज के भी सोलह संस्कार गिनाये गए है। वास्तु-शास्त्र मे जो कारीगर चुने जायं उनके बारे मे भी नियम हैं। यथा :

आजकल के नाम	कश्यप संहिता	भृगु सहिता	मय संहिता
इंजीनियर	शिल्पज्ञ	सूत्रधार	स्थपति
ओवरसियर	दैवज्ञ	गणितज्ञ	सूत्रग्राही
मिस्त्री	विधिज्ञ	पुराणज्ञ	तक्षक
कारीगर	पौर	कर्मज्ञ	वर्धकि
मजूर	नृकर	कारु	कर्मी

मकान बनाने के जैसे सूक्ष्म विवरण इन सहिताओ मे दिये हैं, वैसे ही जमीन कौन-सी हो, उसमें अड़ोसी-पड़ोसी कैसे हो, कैसे पशु-पक्षियो, वृक्षो-वनस्पतियो का सहवास उचित है, कैसी चीजो का अनुचित—इन सब बातो के बारे मे विस्तार से कहा गया है। घर के आसपास पर्वत, चट्टान हो परन्तु दलदल, खड्डे न हो; फटी हुई या दाग वाली, हड्डियाँ पड़ी जमीन अच्छी नही होती यह सब 'शिल्प-रत्न' मे कहा गया है।[1] साथ ही किस दिशा मे घर के बाथरूम हो, रसोई हो, सोने का कमरा हो वगैरह सब बाते 'नारदीय शिल्प' मे दी हैं।[2]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला के अनुसन्धान के लिए श्री अरविन्द और आनन्द-कुमार स्वामी भी चाहे आध्यात्मिकता देखना आवश्यक समझते हो[3] फिर भी, उनमे एक भौतिक उपयुक्ततावादी धारा भी अवश्य स्पष्टतः वर्तमान रही है। उसकी खोज का बहुत-सा प्रयत्न इधर डॉक्टर मोतीचन्द्र, डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, सतीशचन्द्र काला,

---

१. गोमत्यैः फलपुष्पदुग्धतरुभिश्चाढ्या समा प्राक्प्लवा
स्निग्धा, धीररवा, प्रदक्षिणजलोपेताऽऽशुबीजोद्गमा
रामोक्ता, बहुपांसुरक्षयजला, तुल्या च शीतोष्णयोः
श्रेष्ठा भूरधमास्थियुक्त विपरीतामिश्रिता मध्यमा ॥

—शिल्परत्न

२. स्नानागारं दिशि प्राच्यां अग्नियामग्निमंदिरम्
अवाच्यां शयनागारं नैऋत्यां वस्त्रमंदिरम्
प्रतीच्यां भोजनागारं वायव्य पशुमंदिरम्
भांडकोशं तूत्तरस्या ऐशान्यां देवमंदिरम्

—नारदीय शिल्प

३. 'भारतीय आदर्श, मूर्ति-कला का भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति से घनिष्ट सम्बन्ध होने के साथ-साथ उनमें इन सबके रहस्य की व्यापक अभिव्यक्ति भी है।' कुमार स्वामी—'द एम एण्ड मेथड्स आफ इण्डियन आर्ट।'

अ० स० आलतेकर आदि ने हिन्दी में भी किया है। फिर भी बडी आवश्यकता है कि भारतीय शिल्प तथा वस्तु के बारे मे छोटे-बड़े अनेक सचित्र ग्रन्थ हिन्दी मे निकले और वे वैज्ञानिक ढंग पर लिखे हो। यानी उनमे स-विवेक इतिहास हो, निरा भावावेश नहीं। 'संस्कृति' के नाम पर पुनरुज्जीवन का नारा आजकल कई जीर्णोद्धारवादी लगा रहे हैं जो सही नही है। साहित्य मे भी शिल्प-जैसी प्रमाणबद्धता, स्थापत्य-जैसी सुगठित भव्यता तभी आ सकेगी जब हमारी सौन्दर्य-दृष्टि व्यापक बनेगी और हमारी अभिरुचि विकसित होगी। अन्यथा 'मूर्ति' को धार्मिक आवरण मे ही सोचने की जैसे हमारी आदत पड़ गई है। और हम उसी मानसिक गुलामी मे अभी भी जकडे हुए हैं।

हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर मे शिल्प और स्थापत्य का—क्या गुप्त, मौर्य, गांधार और कुषाणकालीन और क्या पठान, तुगलक, मुगल और ब्रिटिश-कालीन कला-कृतियो का—यथार्थ मूल्यांकन हम तभी कर सकेगे जब हम जानेगे कि आज के युग और कला मे यथार्थ सामाजिक प्रगति की दिशा मे उसमे से कौन-सी प्रेरणाएं ग्राह्य हैं और कौन-सी बाते निरी विफलाग, मुमूर्षु और अननुकरणीय है? उन्हीं सशक्त परम्पराओ को चीन्हना है।

खेद

हमें खेद है कि हम स्थानाभाव के कारण श्री ठाकुरप्रसादसिंह, उदयवीरसिंह शास्त्री, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', मन्मथनाथ गुप्त, गजानन माधव मुक्तिबोध, रामगोपालसिंह चौहान और क्षेमचन्द्र 'सुमन' आदि विद्वान् आलोचकों द्वारा लिखित समीक्षा-लेख इस अंक में प्रकाशित नहीं कर सके।

—सम्पादक

ड्रिल्स
रीमर्स
कटर्स

अगले अंक में

◆निबन्ध—

हिन्दी के आदि काल—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। कबीर—प्रकाशचन्द्र गुप्त। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—नेमिचन्द्र जैन। हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि—डॉक्टर सत्येन्द्र। प्रगतिशील कविता में रोमान—गिरिजाकुमार माथुर। रस-सिद्धान्त की मीमांसा—डी० के० बेडेकर। पाश्चात्य आलोचना-पद्धति—डॉ० भगीरथ मिश्र। नाटक-तत्त्व—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय। बौनों का युग—महावीर अधिकारी। हिन्दी के मुख्य छन्दों की उत्पत्ति तथा विकास—नामवरसिंह। ऊँच निवास नीच करतूती—नरेन्द्र शर्मा। आधुनिक पंजाबी साहित्य—बलवन्त गार्गी।

◆प्रस्तुत प्रश्न—

साहित्य में यथार्थवाद—डॉ० अब्दुल अलीम, गोपाल हालदार, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, डॉ० रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी।

◆मूल्यांकन—

'इतिहास के आँसू' तथा 'धूप और धुआँ'—(दिनकर) उदयशंकरभट्ट। अग्नि-शस्य—(नरेन्द्र शर्मा) डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन'। हरी घास पर क्षण भर—(अज्ञेय) भारतभूषण अग्रवाल। अपलक—(नवीन) धर्मवीर भारती। नदी के द्वीप—(अज्ञेय) कुमारी विजय दास। मधुर स्वप्न—(राहुल) डॉक्टर जगदीश गुप्त। मुर्दों का टीला—(रांगेय राघव) शमशेर बहादुर सिंह। मरु प्रदीप—(अञ्चल) ठाकुर प्रसाद सिंह। प्रगति की राह—(गोविन्दवल्लभ पन्त) लक्ष्मीकान्त। दाजी—(नित्यानन्द वात्स्यायन) रामेश्वरी शर्मा। परन्तु—(प्रभाकर माचवे) रामकुमार। प्लाट का मोर्चा—(शमशेरबहादुरसिंह) हंसकुमार तिवारी। टीलों की चमक—(जयनाथ 'नलिन') शकुन्तला माथुर। रक्त के बीज—(मन्मथ नाथ गुप्त) यशदेव। पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ—(अश्क) गोपालकृष्ण कौल। कोणार्क—(जगदीशचन्द्र माथुर) विनयमोहन शर्मा। आधुनिक साहित्य—(नन्ददुलारे वाजपेयी) अमृतराय। कल्प-लता—(हजारी प्रसाद द्विवेदी) देवराज उपाध्याय। साहित्य-चिन्ता—(डॉक्टर देवराज) रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'। प्रकृति और काव्य—(डॉक्टर रघुवंश) विजयेन्द्र स्नातक। 'शिलीमुखी' तथा 'कला और सौन्दर्य'—(शिलीमुख) रघुवीरसहाय। कला, कल्पना और साहित्य—(डॉ० सत्येन्द्र) नन्ददुलारे वाजपेयी। पथचिह्न—(शान्तिप्रिय द्विवेदी) विश्वम्भर, मानव'। वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना—(रामनरेश वर्मा) आचार्य विश्वेश्वर। प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व—(हंसराज 'रहबर') पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'। मीमांसिका—(शिवनाथ) रामगोपालसिंह चौहान। सुमित्रानन्दन पन्त—(मानव) गजानन माधव मुक्तिबोध। रेल का टिकट—(भदन्त आनन्द कौसल्यायन) डॉक्टर सुधीन्द्र। मैं इनसे मिला—(कमलेश) कन्हैयालाल सहल। देखा, सोचा, समझा—(यशपाल) त्रिलोचन शास्त्री। गेहूँ और गुलाब—(बेनीपुरी) ललिताप्रसाद सुकुल। बकलम खुद—(नामवर सिंह) प्रभाकर माचवे। नैषधीय चरितम्—(चण्डिकाप्रसाद शुक्ल) उदयवीर-सिंह शास्त्री। अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन—(डॉक्टर कपिलदेव द्विवेदी) डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल। सर्वोदय तत्त्व-दर्शन—(डॉक्टर गोपीनाथ धावन) डॉक्टर महादेव साहा। विज्ञान की प्रगति—(भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव) रामचन्द्र तिवारी।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन, १ फ़ैज़ बाजार दिल्ली, के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।